| | | |
|---|---|---|
| नाम | - | खगेन्द्र ठाकुर |
| जन्म तिथि | - | 9 सितम्बर 1937 |
| शिक्षा | - | (एम. ए., पी एच डी)<br>गोड्डा, भागलपुर, पटना |
| लेखन | - | कविता, व्यंग्य लेख, आलोचना |

प्रकाशित कृतियाँ

| | | |
|---|---|---|
| कविता संग्रह | - | धारा एक व्याकुल, रक्त कमल परती पर |
| व्यंग | - | देह धरे को दंड |
| आलोचना | - | छायावादी काव्य भाषा का अनुशीलन, आलोचना के बहाने, कविता का वर्त्तमान, दिव्या का सौंदर्य, भगवत शरण उपाध्यक्ष, समय समाज और मनुष्य, दिनकर-व्यक्तित्व और कृतित्व, आज का वैचारिक संघर्ष और मार्क्सवाद, विकल्प की प्रक्रिया, प्रगतिशील आन्दोलन के इतिहास पुरूष |

महत्वपूर्ण सम्पादित पुस्तकें -

प्रेम चंद्र प्रतिनिधि संकलन, आलोचक के मुख से

उत्तरशती नाम की पत्रिका (बिहार प्रगतिशील लेखक संघ की पत्रिका का संपादन किया)

| | | |
|---|---|---|
| शीघ्र प्रकाश्य | - | हिंदी कहानी में आज, हिंदी की औपन्याषिक परंपरा |

| | | |
|---|---|---|
| मूल्य | : | 125 रुपये (साधारण) |
| | : | 190 रुपये (सज़िल्द) |

ISBN 978-81-7007-212-6

सम्पादक

**खगेन्द्र ठाकुर**

# श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ
## (1950–1960)

**संपादक**
**खगेन्द्र ठाकुर**

**पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.**



प्रथम संस्करण, जनवरी, 2010

**ISBN 978-81-7007-212-6**

मूल्यः 125.00 रुपये (साधारण)
मूल्यः 190.00 रुपये (सज़िल्द)

**शमीम फैजी द्वारा कैक्स्टन प्रेस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली–110055 में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि., 5ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली– 110055 की तरफ से प्रकाशित। ले–आउट व टाईप सेटिंग आंकलन सॉफ्टवेयर, 23382815**

# प्रकाशकीय

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि. नई दिल्ली की श्रेष्ठ साहित्य प्रकाशन योजना के अंतर्गत आज़ादी के बाद छह संकलनों में हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों का प्रकाशन किया जा रहा है। संकलनों में लेखकों का क्रम कहानी दशकों के अनुसार किया गया है, पर उनकी कहानियों को दशकों से मुक्त रखा गया है। संपादकों ने कोशिश की है कि लेखकों की यथासंभव श्रेष्ठ कहानियाँ चुनी जायें और संकलन में सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व हो सके। संकलनों की पृष्ठ संख्या को अतिविस्तार से बचाने के आग्रह में कुछ और महत्वपूर्ण लेखकों को शामिल नहीं किया जा सका। इसके लिए हमें खेद है।

आशा है ये संकलन पाठकों के लिए उपयोगी और सार्थक प्रमाणित होंगे।

**–प्रकाशक**

# भूमिका

'नयी कहानी' के नाम से कहानी में एक नया आन्दोलन खड़ा करने वालों की अवधारणा और उद्देश्य से अलग हट कर भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी पर गौर करें तो पता चलेगा कि स्वतंत्रता के बाद हिन्दी-कहानी में नयापन आया है। जिन कहानीकारों ने नयापन लाने का कोई दावा नहीं किया, उनकी कहानियों में भी नयापन है। कहानी में नयापन का क्या अर्थ है! इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी रचना में जो नयापन आता है, वह सबसे पहले जीवन और समाज में आता हैं कोई रचनाकार जीवन और समाज की ओर से आँखें मूँद कर रचना नहीं कर सकता। रचना यथार्थवादी हो या मनोवादी सबका रचनात्मक स्रोत समाज ही है। इस धारणा से जिन्हें एतराज हो, वे यह समझने की कोशिश करें कि हमारा समाज बहुस्तरीय है, बहुढाँचीय है, अतः एक ही समय में, एक साथ ही, समाज में अनेक प्रकार के वर्ग होते हैं, हर वर्ग के पात्रों और चरित्रों में विकास की अवस्था की दृष्टि से, मनोदशा और आकांक्षा की दृष्टि से, स्थिति और उद्देश्य की दृष्टि से उनमें फर्क होता है। अतः यथार्थ और संदर्भ की बात करने का अर्थ किसी भी तरह, कहीं से भी एकरूपता नहीं होता। प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद एक ही समय में हुए, फिर भी उनकी कहानियों के स्वरूप में फर्क है, क्यों है फर्क? फर्क सिर्फ इसलिए नहीं है कि प्रेमचंद गांव के थे किसान-जीवन के कथाकार हैं और प्रसाद जी ग्रामेतर जीवन के। दोनों में किसी-न-किसी तरह जीवन का यथार्थ है, लेकिन यह तो समाज ही है, जिसमें कई तरह के यथार्थ हैं। इसलिए मुख्य बात यह है कि लेखक मानसिक रूप से यथार्थ के किस पक्ष से लगाव रखता है! उनमें फर्क का भी यही स्रोत है। प्रसाद जी 'आकाशदीप' जैसी कहानी लिख सकते हैं, तो प्रेमचंद 'ठाकुर का कुआँ' अथवा 'सवा सेर गेहूँ' जैसी कहानियाँ लिख सके हैं। दोनों में यथार्थ तो एक ही समय का है, लेकिन मानसिक बनावट में और उद्देश्य में फर्क होने के कारण समय को अलग-अलग यथार्थ में देखते और ग्रहण करते हैं। सुदर्शन और विम्भरनाथ शर्मा कौशिक भी उसी समय थे, और इनमें और तरह की कहानियां मिलती हैं। उसी समय और भी अनेक कहानीकार थे, जो और भी कई तरह की कहानियां लिख रहे थे। यहाँ उन सबका विवेचन और विश्लेषण करना अपेक्षित नहीं है। मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूं कि एक समय, एक समाज में रहते हुए रचनात्मक भिन्नता और विविधता आ जाती है।

एक वर्ग में भी भिन्नता होती है। यशपाल और अज्ञेय या जैनेन्द्र एक ही मध्यवर्ग के कहानीकार हैं, उनके यथार्थ का धरातल मध्यम वर्ग है, फिर भी यशपाल की कहानियाँ अज्ञेय और जैनेन्द्र से भिन्न हैं। कारण यह कि यशपाल, मध्यवर्ग को जीवन जीने में जो समस्याएं झेलनी पड़ती हैं, मुख्यतः उनका चित्रण करते हैं और अज्ञेय एवं जैनेन्द्र मध्यवर्ग की महत्वाकांक्षाओं पर मुख्य रूप से ध्यान देते हैं। यही है फर्क का स्रोत। इतना ही नहीं, मनुष्य के भविष्य के बारे में भी उनके चिंतन में फर्क है। इसके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, उन उदाहरणों की व्याख्या की जा सकती है, जो यहां अभीष्ट नहीं है। यहाँ इतना कहना जरूरी है कि प्रेमचंद के बिलकुल बाद के कहानीकारों ने सामाजिक यथार्थ को, इस तरह अपने हमले का निशाना बनाया और मनावैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक कहानियों का ऐसा शोर मचाया कि बहुतेरे लेखकों और पाठकों को ऐसा लगने लगा कि ग्रामीण जीवन और सामाजिक यथार्थ कहानी का स्वाभाविक विषय नहीं है। इतना ही नहीं, यह भी कहा गया कि कहानी के लिए मुख्य है शिल्प और शैली। कथानक और घटनाओं की श्रृंखला का कहानी के गठन में कोई खास महत्व नहीं है। ऐसी स्थापना के बावजूद अज्ञेय,

जैनेन्द्र आदि की कहानियों में मध्यवर्ग के वे पात्र आये हैं, जिनके सामने पेट की समस्या नहीं है, परिवार चलाने की समस्या नहीं है, अतः वे मनोवादी समस्याओं से उलझते रहते हैं, लेकिन यह तो तय है कि उन समस्याओं का भी एक सामाजिक धरातल है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में स्वभावतः नयी परिस्थिति आयी और कई तरह से, कई तरफ से आयी। एक तो यह कि देश आजाद हो गया। दूसरी बात यह कि देश विभाजित हो गया, देश ही नहीं, मनुष्य, उसका परिवार, उसके आपसी संबंध सभी विभाजित हो गए। तीसरी बात यह कि दूसरे विश्वयुद्ध की परिणति फासीवाद की पराजय, समाजवाद के विस्तार, इतिहास की पहल साम्राज्यवाद के हाथों से निकल जाने के रूप में हुई। इन सबने पहले तो मनुष्य को अभूतपूर्व प्रेरणा दी, उसमें अभूतपूर्व उत्साह जगाया, लेकिन बाद में अपने देश में पूंजीवादी विकास ने भारतीय मनुष्य के उत्साह को क्रमशः ठंडा भी किया। इन सबने स्वतंत्र एवं जनतांत्रिक देश की नयी पीढ़ी को प्रभावित किया। यों इस समय की प्रक्रिया को वर्गीय दृष्टि से देखने वालों की मनोदशा कुछ भिन्न थी। महान शायर फैज अहमद फैज ने स्वाधीनता प्राप्ति के समय कहा था-

यह दाग-दाग उजाला, यह शबगजीदा-सहर

वो इन्तिज़ार था जिसका, ये वह लहर तो नहीं।

इसके बावजूद देश के भीतर-बाहर वातावरण बदला हुआ था। स्वाधीनता-संग्राम में आम जनता की निर्णायक भागीदारी के कारण हमारे देश में बालिग मताधिकार पर आधारित संसदीय जनतंत्र आया, फलतः देश की राजनीतिक प्रक्रिया बदल गयी। जमींदारी प्रथा और रियासतों का खात्मा कर दिया गया। इन सबके साथ जवाहर लाल नेहरू के प्रधानमंत्री होने से जनता का आशावाद कुछ अधिक मजबूत होता दिखा। लेकिन ब्रिटिश शासनकाल से चली आती हुई प्रशासनिक व्यवस्था, मेकाले की शिक्षा-पद्धति, और पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के यथावत् रह जाने एवं संविधान में जीने के साधनों पर अधिकार, रोजगार, शिक्षा और चिकित्सा आदि को बुनियादी अधिकार नहीं बनाये जाने से आजादी की सीमा भी तय हो गयी। पूंजी की सुरक्षा के लिए घेराबंदी कर दी गयी।

एक ओर यह परिस्थिति थी, दूसरी ओर प्रेमचन्दोत्तर काल में अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि की कथा-परम्परा का बनना, जिसमें व्यक्ति को, उसकी महत्वाकांक्षा और कुण्ठा को अतिशय महत्व दिया गया। विश्व के स्तर पर शक्ति-संतुलन के समाजवाद के पक्ष में होने से साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का वैचारिक एवं सांस्कृतिक हमला तेज हो गया, जिसके जरिये साहित्य को विचारधारा, राजनीति, सोद्देश्यता आदि से अलग रखने के रचना-विरोधी नारे लगाये जाने लगे।

उपर्युक्त बातों का जिक्र करते हुए मैं कहना चाहता हूं कि अपने देश में आजादी मिलने के बाद जो कहानीकार आये जिनमें किसी-न-किसी तरह उपर्युक्त परिस्थितियों का प्रभाव दिखायी पड़ता है। उनके सामने समस्या यह थी कि वे रचनात्मकता का विकास किस तरह करें। इस प्रश्न पर अनेक आलोचकों और कहानीकारों ने विचार किया है।

इस प्रसंग में डा. नामवर सिंह कहते हैं - साहित्य रूप की दृष्टि से कहानी स्वयं बहुत आधुनिक है। वह नवीनता के साथ उत्पन्न ही हुई है। इसलिए सौ-पचास वर्षों के इस छोटे से इतिहास में कहानी के रूप में किसी मौलिक परिवर्तन की न तो संभावना है और न आवश्यकता है।" (कहानीः नयी कहानी, पृ. 19) हिन्दी कहानी के उद्भव और विकास को देखते हुए नामवर जी यह बात कहते हैं, लेकिन वे यह भी महसूस करते हैं कि कहानी, विधा की अंतर्वस्तु और रूप दोनों में ही परिवर्तन हुए हैं। हिन्दी-कहानी के नये विकास को देखते हुए वे यह भी कहते हैं कि कहानीकारों में अधिक चिंता शिल्पगत-प्रयोग की रही है। आगे वे कहते हैं - "आज की कहानियों में रूप में परिवर्तन अवश्य दिखायी पड़ता है। शिल्प को लेकर नये प्रयोग करने की प्रवृत्ति आज के कवियों की तरह कहानीकारों में भी है और कविता की तरह कुछ कहानियाँ भी केवल प्रयोग के

लिए लिखी गयी हैं। (उपर्युक्त, पृ. 20) यहां नामवर जी प्रयोगवादी कविताओं और कहानियों को ध्यान में रखकर अपनी बात कह रहे हैं। लेकिन इसी प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि स्वतंत्रयोत्तर काल में कविता में जहां अज्ञेय के माध्यम से प्रयोगवाद का या उसके बदले हुए नाम 'नयी कविता' का एक तरह से आतंक था, वहीं कथा के क्षेत्र में प्रभुत्व सामाजिक यथार्थ का था। आज उसे मुड़ कर देखने पर तो कविता के क्षेत्र में भी यही महसूस होता है कि उस दौर में कविता के क्षेत्र में भी नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध आदि की काव्य-कृतियां मुख्य हैं। कथा में तो नागार्जुन, यशपाल, अमृत लाल नागर, फणीश्वर नाथ रेणु आदि पहले से सृजनरत लोगों ने कथा के इतिहास को समृद्ध किया। यहां तक कि इला चन्द्र जोशी ने भी 'जहाज का पंछी' जैसा उपन्यास लिखा, जिसमें जीवन-संघर्ष का यथार्थ स्पष्टतः चित्रित है। यह उपन्यास अज्ञेय के 'अपने-अपने अजनबी' से एकदम अलग है। इसी तरह हम देखते हैं कि उस समय जो नये कथाकार आये, उन्होंने किसी-न-किसी तरह परिस्थिति के आग्रह को स्वीकार किया। ऐसा करके ही वे अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के व्यक्तिवाद के प्रभाव से कहानी को मुक्त कर सके थे। इस तरह के कहानीकारों ने हिन्दी-कहानी को मनोवादी यथार्थवाद के घेरे से मुक्त किया। ऐसा करके ही वे इतिहास को आगे बढ़ा सकते थे। साहित्य में कहानी हो या कविता या कोई अन्य विधा, उनके विकास का अर्थ होता है समाज और जीवन में आये नये लक्षणों को पहचान कर पकड़ना और उन्हें रचना का रूप देना। इस प्रक्रिया से ही रचना की अंतर्वस्तु और शिल्प में नयापन आता है। नामवर जी कहते हैं - "शैली के अतिरिक्त कहानी के आन्तरिक रूप में भी काफी परिवर्तन हुआ है। इस बीच कहानी का रूप इतना विस्तृत हो गया है कि बहुत-से निबंध-स्केच, रिपोर्ताज भी कहानी की सीमा में घुसे हैं।" (उपर्युक्त, पृ.-20) विधाओं का परस्पर अतिक्रमण कहें या कहानी के कहानीपन को विघटित करने की कोशिश कहें, आज यानी पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में ज्यादा दिखायी पड़ी हैं, लेकिन आलोच्य दौर में यत्र-तत्र ही ऐसा हुआ है। नामवर जी उपर्युक्त पंक्तियों में जो कहना चाहते हैं, उसे और स्पष्ट करके उन्होंने आगे कहा है। वे कहते हैं - "आज घटना-संघटन इतना विघटित हो गया है कि लोगों को अधिकांश कहानियों में 'कथानक' नाम की चीज मिलती ही नहीं।" (उपर्युक्त) ऐसा कहने के पीछे नामवर जी का तात्पर्य यह है कि कहानी स्वरूप-ग्रहण करने के लिए 'कथानक' रचने की कला के प्रति अब कहानीकार सजग नहीं है। कथानक रचने की कला कहानी के रचना-विधान या रूप-शिल्प से भिन्न होती है। कहानी रचने की कला अगर कहानी में नहीं है, तो इसका मतलब यह है कि कहानी में कथानक का अभाव हो गया है। ऐसी कहानियाँ चेतना-प्रवाह की शैली में अथवा विचार-विमर्श के जरिये रची जाती हैं ऐसी कहानियों के प्रति नामवर जी ने एक तरह से अपना विरोध प्रकट किया है। वे यह प्रश्न तीव्रता से उठाते हैं कि कहानीकार के पास कहने के लिए कुछ है या नहीं? वे यह भी कहते हैं कि कथानक का ह्रास वास्तव में कथा का ह्रास है।

कहानी के पाठकों को यह पता चलना चाहिए कि घटना का संदर्भ क्या है, उसका देशकाल क्या है, कथा के पात्र का देशकाल क्या है, उसके जीवन का परिप्रेक्ष्य क्या है? ये प्रश्न लेखक की दृष्टि में रहने चाहिए। डा. नामवर सिंह इस प्रसंग में स्पष्ट कहते हैं कि "घटना-प्रसंग जितना ही वास्तविक होगा, कहानी उतनी ही जोरदार होगी। यशपाल अपने सर्वोत्तम रूप में इस शैली के प्रतिनिधि कहानीकार हैं। खेद है कि नये कहानीकारों में से बहुत कम हैं, जो इधर ध्यान दें और सफलतापूर्वक इसका निर्वाह कर सकें।" (उपर्युक्त) यह कहते हुए नामवर जी यह स्वीकार करते हैं कि मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, फणीश्वर नाथ रेणु, मार्कण्डेय, केशव मिश्र, शिव प्रसाद सिंह आदि ने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। लेकिन वे यह कहते हैं कि उन सबसे आगे बढ़कर निर्मल वर्मा ने कहानी के सामाजिक संघर्ष के पुराने दायरे को तोड़ा है या छोड़ा है और इस तरह की श्रेष्ठ कहानी है 'परिन्दे'। कहानीकारों, कहानी के आलोचकों और अनेक प्रबुद्ध पाठकों के बीच 'परिन्दे' के पक्ष में नामवर जी की राय विवाद का

विषय बनी रही है। हम इस पर आगे विचार करेंगे। यहां यह कहना चाहता हूं कि नामवर जी जब 'घटना-प्रसंग' को कहानी के लिए आवश्यक मानते हैं, क्योंकि इससे कहानी जोरदार बनती है और फिर कहते हैं कि यशपाल इस शैली के प्रतिनिधि कहानीकार हैं, तो निर्मल वर्मा के बारे में कही गयी बातों से कोई अंतर्विरोध नहीं पैदा होता है क्या? नये कहानीकारों में सामाजिक दृष्टि के अभाव की शिकायत नामवर जी करते हैं। इससे यह बात सामने आती है कि निर्मल वर्मा की कहानी सामाजिक संघर्ष और दृष्टि से मुक्त है। हमारे आलोच्य दौर के अनेक कहानीकारों ने कहानी के स्वरूप पर विचार किया है। भीष्म साहनी कहते हैं – "किसी लेखक का लेखनीय व्यक्तित्व मूलतः उसके संवेदन से ही बनता है। संवेदन की मौलिकता में ही उसके लेखन की मौलिकता भी निहित होती हैं उसकी शैली और शिल्प भी उसके अनुरूप ही विकास पाते हैं। (भीष्म साहनी-कहानियां, आधार, प्रकाशन, भूमिका में) संवेदन वास्तव में इन्द्रिय बोध से प्राप्त अनुभव के माध्यम से विकसित होता है। संवेदन पीड़ा या व्यथा के प्रति होता है, जो पीड़ा देने वाले के प्रति आक्रोश या नफरत के रूप में भी व्यक्त होता है। भीष्म साहनी की कहानियाँ इस बात को पुष्ट करती हैं। संवेदन पर उनका इतना जोर है कि वे यह भी कहते हैं – "लेखक अपने परिवेश से किसी विचारधारा के नाते नहीं जुड़ता। विचारधारा उसे दृष्टि देती है। वह उसे समाज को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने में सहायक होती है। वामपंथी विचारधारा ने निश्चय ही हमारे दृष्टि-क्षेत्र के साथ एक नया आयाम जोड़ा। वह अपहृत जनता के विशाल जन-समुदाय को हमारे दृष्टि क्षेत्र में ले आयी, जिससे हम सामाजिक गतिविधियों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देख पाएं।" (उपर्युक्त भूमिका) भीष्म साहनी का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। भीष्म जी स्वातंत्रयोत्तर काल के अत्यंत प्रमुख लेखक हैं और उन्होंने अपनी कहानियों से हिन्दी कहानी का अंतर्वस्तुगत विस्तार किया और नयी संवेदनशीलता से उसे समृद्ध भी किया। वे जिस कौशल से नयी संवेदना और नयी अंतर्वस्तु को एकमेव करके पाठकों को प्रभावित करते हैं, वही उनकी कला है, उनका शिल्प है। भीष्म जी ने अपने रचनात्मक अनुभव के बारे में एक रोचक संस्मरण लिखा है। वे जब मास्को से लौटकर आये, सन् साठ के आसपास, तो कहानी लिखने लगे थे। उन्होंने अपनी एक कहानी निर्मल वर्मा को देखने को दी। उन दिनों निर्मल उभरते हुए चर्चित कथाकार थे। निर्मल जी ने भीष्म जी की कहानी पढ़कर कह दिया यह भी कोई कहानी है। लेकिन भीष्म जी लिखते रहे। एक लम्बे अंतराल के बाद हम जब यहां से उलट कर देखते हैं, तो हमें महसूस होता है कि 'चीफ की दावत', 'वाङ्चू', सागमीट आदि जैसी कहानियाँ भीष्म साहनी की लिख सकते थे, क्योंकि वामपंथी विचारधारा और गहन संवेदनशीलता को समन्वित कर सकते हैं। प्रश्न यह है कि भीष्म जी की इन कहानियों में पूर्ववर्ती दौर की तुलना में नयापन है या नहीं? मैं तो समझता हूं कि स्वातंत्रयोत्तर काल में जीवन और समाज में तथा मानवीय सम्बन्धों में जो नयापन आया, वह भीष्म जी की कहानियों में है। यह कहना मुश्किल है कि हिन्दी कहानी में नयापन सबसे पहले किस कहानी में या किस कहानीकार की कहानी में दिखायी पड़ा।

इसी प्रसंग में मार्कण्डेय के विचारों पर गौर करें। वे कहते हैं – "सामाजिक संदर्भों का वास्तविक चित्रण नये कथाकारों की कहानियों का प्रमुख तत्व बन गया। जीवन के सुख-दुःख को इन्होंने संदर्भों से उठाकर अपनी कहानियों का विषय बना लिया। जाहिर है कि कहानी की रचना-प्रक्रिया के क्षेत्र में यह बड़ा परिवर्तन था और इसने नयी कहानी को सीधे प्रेमचन्द से जोड़ दिया।" (पान-फूल की भूमिका) ध्यान देने की बात है कि मार्कण्डेय स्वातंत्रयोत्तर नयी कहानी को सीधे प्रेमचंद से जोड़ने को श्रेयस्कर मानते हैं। प्रेमचंद से जुड़ने और नयेपन में कोई अंतर्विरोध है क्या! मेरी समझ से तो नहीं है। प्रेमचंद से जुड़ने का मतलब प्रेमचंद को दुहराना कतई नहीं है। नये कहानीकारों, जैसे अमरकांत, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, शेखर जोशी, मोहन राकेश आदि ने अपनी कहानियों में जिस संदर्भ से, जिस यथार्थ से कथा उठायी, वे तो प्रेमचंद के समय में नहीं थे, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल आदि के उदयकाल में भी नहीं थे। नयापन तो सबसे पहले यही है कि स्वातंत्रयोत्तर काल में जो नया यथार्थ विकसित हुआ, जनता को

जिन्दगी में जो नये अनुभव हुए, उन्हीं से तो उस दौर की कहानियाँ रची गयीं। मार्कण्डेय सामाजिक संदर्भ के वास्तविक चित्रण पर जोर देते हैं, इसका अर्थ यह है कि घटनाएं तथा पात्र जीवन और समाज से अलग-थलग नहीं होते, उनके होने की पृष्ठभूमि होती है, इस पृष्ठभूमि का चित्रण करने से घटनाओं एवं पात्रों का स्वरुप और कहानी का कथ्य स्पष्ट होता है। मार्कण्डेय इस नये दौर की कहानियों के उद्देश्य के बारे में एक ध्यान देने योग्य बात कहते हैं कि नये कहानीकार जन-जीवन के नये यथार्थ का चित्रण करके नये राष्ट्र के निर्माताओं के सामने देश की वास्तविक तस्वीर पेश कर रहे थे। इसी दृष्टि से ग्रामीण-जीवन के यथार्थ का चित्रण महत्वपूर्ण हो जाता है। अतःसाहित्य में भी ग्रामीण यथार्थ की उपेक्षा करने का अर्थ साहित्य को जन-जीवन और राष्ट्र की आवश्यकता से अलग कर देना है। मार्कण्डेय ने कथा-लेखन को गांव की ओर मोड़ने का श्रेय रेणु के 'मैला आंचल' और अपनी कहानियों को दिया है। लेकिन इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण कड़ी वे छोड़ देते हैं, वह है नागार्जुन के उपन्यास, खासकर के उनका उपन्यास 'बलचनमा'। 'बलचनमा' का प्रकाशन 1952 में हुआ और हिन्दी लेखकों एवं पाठकों के बीच काफी चर्चित हुआ। नंद दुलारे वाजपेयी ने 'आलोचना' के एक संपादकीय में लिखा था कि 'बलचनमा' ने हिन्दी उपन्यास को एक नया मोड़ दिया। यहाँ एक स्पष्टीकरण जरूरी है, वह यह कि प्रेमचंद से जुड़ने का मतलब ग्रामीण यथार्थ का चित्रण नहीं है। प्रेमचंद की परम्परा का अर्थ है अपने समय के यथार्थ के सबसे महत्वपूर्ण पहलू का चित्रण इस तरह करना कि उससे भविष्य की दिशा का संकेत मिले, इस प्रक्रिया में परस्पर विरोधी शक्तियों का आपसी संघर्ष भी होता है।

माकण्डेय ने नयी कहानी को अपने ढंग से परिभाषित करने की भी कोशिश की है, जो ध्यान देने लायक है। वे कहते है - "नयी कहानी से मेरा मतलब है उन कहानियों से जो सच्चे अर्थों में कलात्मक निर्माण हैं, जो जीवन के लिए उपयोगी अथवा महत्वपूर्ण होने के साथ ही उसके किसी-न-किसी पहलू पर आधारित हैं या जीवन के नये सत्यों का एकदम नयी दृष्टि से देखने में समर्थ हैं।" (पान फूल की भूमिका) एक साथ कई बातें मार्कण्डेय कह जाते हैं- कहानी का जीवन के लिए उपयोगी होना और जीवन के नये सत्यों को एकदम नयी दृष्टि से देखने की क्षमता यानी समाज के जीवन का ऐसा चित्रण कि मनुष्य में जीवन के प्रति अनुराग, आकर्षण और विश्वास को बल मिले, सामाजिक यथार्थ गतिशील होता है, इसलिए वह बदलता रहता है। बदलाव की इस प्रक्रिया से जीवन का सत्य भी बदलता है। इस प्रक्रिया और सत्य की पहचान करने वाला लेखक ही नयी कहानी की चिंता कर सकता है। इसके साथ ही मार्कण्डेय सामान्य जीवन की भाव-भूमि और संवेदना को कुरेदने पर भी बल देते हैं। आगे चल कर एक बात और वे कहते हैं, जो ध्यान देने योग्य है- "कहानी में नवीनता का आग्रह विशिष्ट प्रकार के जीवन पर न होकर जीवन के विशिष्ट प्रकार पर होना चाहिए।" ('हंसा जाई अकेला' की भूमिका) विशिष्ट प्रकार का जीवन समाज के सम्भ्रांत लोगों का होता हैं मार्कण्डेय सामान्य जीवन के विशिष्ट प्रकार के चित्रण पर जोर देते हैं। इस तरह जीवन के इस पक्ष पर जोर देने का कारण यह है कि कुछ कहानीकारों ने, खासकर के विदेशी कहानियों का अध्ययन करके उनसे खास ढंग की कला सीखकर गांव की कहानियों को एकरस एवं फीकी कहा है, यह यथार्थ के सबसे प्रमुख पहलू से कहानी को अलग कर देना है। मार्कण्डेय ने हिन्दी कहानी के इस दौर में चेखव बनाम काफका का जिक्र किया है। सामाजिक यथार्थ से लगाव रखने वाले चेखव को अपने साथ पाते हैं और सामाजिक यथार्थ का निषेध कर के व्यक्ति सत्ता पर जोर देने वाले काफका का सहारा लेते दिखायी पड़ते हैं। राजेन्द्र यादव ने कहानियों के बारे में बहुत लिखा है, लेकिन मुख्य बात यह है कि अपनी रचना-प्रक्रिया का जिक्र करते हुए कहते हैं "स्मृतियों के साथ-साथ अपने परिवेश को समझाने, आसपास का संदर्भ खोजने की कोशिश उन कहानियों में आज बहुत साफ दिखाई देती है- अतीत की ओर लौटने की नहीं, वर्तमान पर ठहरने की जलती हुई तात्कालिकता को स्वीकार करने की झिझकती-सी हिम्मत।" (मेरी प्रिय कहानियाँ की भूमिका) इस तरह

राजेन्द्र यादव जीवन के अनुभवों की स्मृति के आधार कहानी लिखने की बात कहते हैं, दूसरी बात यह कि स्मृति कोई सुदूर अतीत की नहीं होती, तीसरी बात यह कि स्मृतियों का संदर्भ होता है, लेखक कहानी लिखने के क्रम में उन संदर्भों की खोज करता है। लेखक वर्तमान से जूझता है, तभी भविष्य को गढ़ सकता है। बात यह है कि जिस समय लेखक दृश्य जगत को देखता है या उसका साक्षात्कार कर रहा होता है, उस समय रचना नहीं की जा सकती, रचना तो बाद में होती है। यह स्मृति वैसी ही है, जैसे वर्ड्सवर्थ के इस कथन में कि एकान्त में याद किये गये संवेगों से कविता बनती है। कमलेश्वर ने भी कहानी पर काफी विचार व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं- "मेरे लिए मेरी कहानियां समय की धुरी पर घूमती सामान्य सच्चाइयों के प्रति और पक्ष में लिये गये निर्णयों की कहानियाँ हैं।" (मेरी प्रिय कहानियां, भूमिका) इसी प्रसंग में वे आगे कहते हैं कि "नई कहानी ने रुढ़िबद्ध गद्य-साहित्य से विद्रोह किया। ...मुझे पात्रों ने कभी कहानी नहीं दी है। मुझे हमेशा उनकी स्थितियों ने ही कहानी दी है। (उपर्युक्त)

मैंने नयी कहानी दौर के अग्रणी कहानीकारों की राय उस समय की कहानियों के स्रोत स्वरूप और प्रक्रिया के बारे में इसलिए उद्धृत की कि पाठक यह समझ सकें कि नयी कहानी के बारे में, नयी कहानी के उदय के बारे में उनकी राय क्या है? प्रायः इन सभी लेखकों ने जीवन-संपर्क, स्थिति या परिस्थिति, यानी यथार्थ को कहानी की प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार कहानी में नयापन लाने वाले लेखकों की एक पीढ़ी है, जिसने अपने-अपने ढंग से नयेपन की खोज की है, सार बात यह है कि इन कहानीकारों की कहानियाँ पूर्ववर्ती पीढ़ी से कथा, कथ्य, भाषा, शिल्प-शैली आदि में भिन्न है और इन सबमें भी एकरूपता नहीं है, सभी की कहानियों में उनका निजत्व है। विवाद इस बात को लेकर होता रहा है कि नामवर जी ने निर्मल वर्मा को नयी कहानी का पहला कहानीकार कहा है। लेकिन नामवर जी ने एकदम यही बात नहीं कहीं है। उनका कहना है कि "समकालीनों में निर्मल पहले कहानीकार हैं, जिन्होंने इस दायरे (पुराने सामाजिक संघर्ष) को तोड़ा है, बल्कि छोड़ा है, और आज के मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या को उठाया है। भीष्म साहनी, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव आदि ने सामाजिक संघर्ष और यथार्थ को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। इसलिए यह तो सच है कि निर्मल सामाजिक संघर्ष से नाता तोड़ने वाले या उस संघर्ष को छोड़ने वाले कहानीकार हैं। दूसरी बात यह है कि आज का मनुष्य कौन है 'परिन्दे' की लतिका, डा. मुखर्जी, ह्यूबर्ट आदि या वाङ्चू या अमरकांत की डिप्टी कलक्टरी का नारायण या हंसा जाई अकेला का हंसा, या दाज्यू का 'ब्याय' या मलबे के मालिक का वह बुड्ढा मुसलमान गनी आदि। ये सभी तो ऐसे पात्र हैं, जो इतिहास में समाज का इतिहास, हो या साहित्य का, पहले कभी नहीं दिखाई पड़े। ये ऐसे पात्र हैं जिनकी व्यथा हमारे साहित्य और संस्कृति के इतिहास में पहले कभी नहीं महसूस हुई। इन सबका सामाजिक संदर्भ है और संघर्ष भी। दाज्यू 'ब्वाय' को जब दुबारा कोई पूछता है तुम्हारा नाम क्या है और वह जब कहता है मुझे 'ब्वाय' कहते हैं साहब, तब क्या वह दमित मनुष्यता की ऐतिहासिक पीड़ा नहीं व्यक्त कर रहा होता है? यह पीड़ा कितनी गहरी और कितनी बेधक है? 'हंसा जाई अकेला' का हंसा अत्यंत सामान्य और बेवकूफ समझा जाने वाला पात्र है, लेकिन वही जब प्रबुद्ध लोगों से यह सुनते ही कि काँग्रेस की एक नेता आ रही हैं, उनकी सभा गाँव में कैसे होगी, हंसा अपने तई फैसला कर लेता है कि सभा हो कर रहेगी और वह भोंपा लेकर प्रचार करने लगता है। फलतः सफल सभा हो गयी। इस प्रक्रिया में पड़कर हंसा अचानक एक ऐतिहासिक चरित्र बनकर खड़ा हो जाता है। भीष्म साहनी की कहानी का नायक वाङ्चू तो इतिहास के एक खास दौर में अद्भुत चरित्र बनकर सामने आता हैं दो राष्ट्रों के बीच का युद्ध किस प्रकार मनुष्यता के लिए संकट पैदा करता है, इसका साक्षात्कार अत्यंत विश्वसनीयता के साथ कराता हैं यह युद्ध ही नहीं है बल्कि राष्ट्रवाद या राष्ट्रीय अहंकार भी इसमें शामिल हो कर मनुष्यता को पीड़ा देता है, संकटग्रस्त बना देता है। सन् 62 के भारत-चीन युद्ध

के समय वर्षों से सारनाथ में रहने वाला वाङ्चू अचानक भारतीय नागरिकों की येका का शिकार हो जाता है और वह चीन लौट जाने का फैसला करता है। चीन पहुंचने पर वहां के खुफिया यह प्रश्न उठाते हैं कि वाङ्चू इसी समय क्यों भारत से चीन चला आया! कहीं भारत के लिए खुफियागिरी करने तो नहीं आया? इसी प्रश्न के साथ उसकी छानबीन की जाने लगती है और तंग आ कर वह फिर भारत चला आता है। राष्ट्रीय अहंकार ने उसके लिए स्वदेश को भी बेगाना बना दिया। इस दृष्टि से वाङ्चू क्या पूरी मनुष्यता का प्रतिनिधि बनकर समस्त मनुष्यता पर आये संकट का प्रतिनिधि नहीं बन जाता है? मुझे तो लगता है कि वह ऐसी भूमिका अदा करता है और इसी कारण वाङ्चू एक ऐतिहासिक चरित्र बन जाता है। युद्ध के समय एक ऐसे चरित्र की ओर लेखक का ध्यान जाना और उसे मनुष्यता पर आये संकट के प्रतिनिधि या प्रतीक रूप में प्रस्तुत करना उनकी अद्भूत कलात्मक सूझ का प्रमाण है। कहानी और उसके मुख्य पात्र वाङ्चू के व्यक्तित्व का प्रभाव अत्यंत व्यापक है। इस प्रभाव से मानवीय संवेदना वाले पाठकों को जो दर्द होता है, वह इस कहानी को महत्वपूर्ण बनाता है। राजेन्द्र यादव की बहुचर्चित कहानी है 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', लेकिन हमने यहाँ 'अभिमन्यु की आत्महत्या' का चयन किया है। आज के मनुष्य के संकट और चिंता को देखते हुए 'अभिमन्यु की आत्महत्या' एक प्रतीकात्मक कहानी है। अभिमन्यु नहीं; चक्रव्यूह भी प्रतीक बने हुए हैं। कई तरह के प्रसंगों को मिलाकर बनी हुई कहानी बताती है कि महाभारत में तो अभिमन्यु की हत्या सात महारथियों ने मिलकर की थी, लेकिन आज के महाभारत में आज का अभिमन्यु चक्रव्यूह में घुटन महसूस करता है और अंत में आत्महत्या करता है। आत्महत्या भी कैसी? यह आत्महत्या अनोखी है; क्योंकि आज का अभिमन्यु आत्महत्या, करके भी जिंदा रह जाता है। दुनिया में रहना उसकी मजबूरी है। कथा में आत्महत्या करने गरजते-उछलते समुद्र के किनारे गया आज के अभिमन्यु के मन में प्रश्न उठता है- मगर आखिर मैं जिऊं ही क्यों? किसके लिए? इस जिंदगी ने मुझे क्या दिया? वह अनथक संघर्ष, स्वप्न-भंग, विश्वासघात और जलालत!" ये प्रश्न भी एक व्यक्ति के नहीं है। कहना तो यह चाहिए कि ये प्रश्न आज के युग में सबके तो हैं ही, हर युग में, महाभारत काल से आज तक मनुष्य के सामने ये प्रश्न उठते रहे हैं। आज के मनुष्य की पीड़ा यह है कि वह न जी सकता है और न मर सकता है! यह विशेषता है आज के चक्रव्यूह की। आज का आदमी अपने कंधे पर अपनी लाश लिये जी रहा है, चल रहा है। कैसी लाचारी है।

अमरकांत ने 'डिप्टी कलक्टरी' कहानी उस दौर में लिखी जब आदमी यह समझ रहा था कि उसके सामने बेहतर जिन्दगी के अवसर के द्वार खुल गये हैं। कोई कारण नहीं कि सकलदीप बाबू का पुत्र नारायण डिप्टी कलक्टर नहीं बन सकेगा। यह है स्वतंत्रता और संविधान से पनपे स्वप्न। लेकिन हकीकत यह है कि अवसर का लाभ उठाने के लिए पिता ने सारी सुविधाएं पुत्र को उपलब्ध करायीं और पुत्र ने अनथक मेहनत की, लिखित परीक्षा में सफल भी हो गया, लेकिन अंत में मौखिक परीक्षा में छंट गया। यह है अवसर की त्रासदी। नारायण की त्रासदी केवल उसी की नहीं है, बल्कि उन तमाम लोगों की त्रासदी है, जो ऊपर तो पहुंच नहीं रखते, पहुंच के अभाव में नारायण डिप्टी कलक्टरी के द्वार पर पहुंच कर भी भीतर प्रवेश नहीं सका। यह त्रासदी उस व्यक्ति की है या व्यवस्था की, जो सभी सामान्य लोगों को भोगना पड़ता है। परीक्षा के लिए फार्म भरने से लेकर अंत में परीक्षा-फल निकलने तक कथा को लेखक ने इस तरह विकसित किया है कि परिस्थिति और व्यक्ति दोनों के स्वप्न का उभरना और फिर टूट कर बिखर जाना अत्यंत मर्मबेधी है। इस कहानी का नारायण विफल हो कर भी अकेला नहीं है, उसके जैसे बहुतेरे युवक हैं, जिनका-स्वप्न पल कर टूट गया, बिखर गया। जिन्दगी इतनी कठिन है कि प्रतियोगिता मुलक समाज में ताकतवर ही जी सकता है, कमजोर की जिन्दगी निरर्थक है।

देश के विभाजन के प्रसंग अस्वाभाविक विभाजन अथवा इंसानियत के विभाजन, परिवार की टुटन आदि पर अनेक मार्मिक कहानियाँ लिखी गयी हैं। मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' जन्मभूमि के छूटने का दर्द

और जन्मस्थल के प्रति हार्दिक लगाव पर मोह को बड़ी खूबसूरती से चित्रित करती है। इस कहानी का कथ्य मंटों की कहानी 'टोबाटेक सिंह' जैसा है, हालांकि, कथ्य की व्यंजना अलग ढंग से की गयी है। यह हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में एक है।

हरिशंकर परसाई के बारे में मुख्य रूप से लोग इस तरह विचार करते रहे हैं कि व्यंग्य शैली है या एक विधा? मैं यहां कहना चाहता हूं कि महात्मा गांधी जैसे राजनीतिक नायक ने प्रेमचंद के बारे में अत्यंत महत्वपूर्ण बात यह कही कि यदि बीसवीं सदी के पुर्वार्द्ध का भारतीय इतिहास किसी कारण से गुम हो जाए तो प्रेमचंद के कथा-साहित्य के आधार पर खोया हुआ इतिहास फिर से लिखा जा सकता है, उसी तरह परसाई जी के लेखन के बारे में कहा जा सकता है कि स्वातंत्रयोत्तर काल का इतिहास गुम हो जाए तो परसाई जी की रचनाओं के आधार पर उसे फिर से लिखा जा सकता हैं परसाई जी ने व्यंग्य को गरिमा पूर्ण ढंग से ऊपर उठाया और तीखा एवं धारदार बनाया। यह उनकी विशेषता है कि वे जहां चोट करना चाहते हैं, वहीं चोट लगती है। यहाँ हमने उनकी कहानी 'भोला राम का जीव' का चयन किया है। यह कहानी एक साथ सरकारी लालफीता शाही, परलोक की अवधारणा और उन दोनों के प्रतिरोध को समन्वित कर देती हैं सरकारी विभागों की कार्य पद्धति पर भी अत्यंत तीखा व्यंग्य है। भोलाराम के जीव का सरकारी फाइलों में फँसा रह जाना एक तरह से शरीर से आत्मा के निकल कर परमात्मा के पास चले जाने के विश्वास पर भी चोट है। देखने की बात यह है कि परसाई का व्यंग्य केवल भाषागत नहीं है, बल्कि जीवन प्रसंग के चित्रण से व्यंग्य उभरता है। भोलाराम का जीव पेंशन की फाइलों में फंसा रह जाता है। स्वातंत्रयोत्तर दौर में हिन्दी-कहानी का पूरा स्वरूप परसाई की कहानियों के बिना खड़ा नहीं होता है।

आलोच्य दौर में कृष्णा सोबती का अपना खास स्थान है। उन्होंने पारिवारिक जीवन की असंगतियों को बड़ी संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया है। यह ठीक है कि उस दौर में उथल-पुथल जिन कहानीकारों की कहानियों से मचा, उनमें कृष्णा जी नहीं हैं। लेकिन आज उस दौर पर जब हम नजर डालते हैं तो मुझे लगता है कि कृष्णा जी का महत्वपूर्ण स्थान है हिन्दी कहानी के विकास में। यहाँ हमने उनकी कहानी 'दादी-अम्मा' का चयन किया है। एक परिवार में तीन पीढ़ियां हैं, सबकी भावनाएं अलग-अलग होती हैं, सबकी आकांक्षाएं अलग-अलग होती हैं, लेकिन सबमें एक निरंतरता का सूत्र भी मिलता है। 'दादी-अम्मा' के जरिये तीनों पीढ़ियों को जोड़ने वाला सूत्र चक्र होता है। सभी पीढ़ियों के सदस्यों का एक-दूसरे के प्रति जो रूख है, उससे पारिवारिक अंतर्विरोध की अभिव्यक्ति है। कई कथन बड़े मार्मिक हैं। एक चरित्र है मेहराँ, जिसे दादी-अम्मा ने अपनी बहू रानी के रूप में घर में प्रवेश कराया था। अब मेहराँ ने अपनी बहूरानी को प्रवेश कराया है। उसके बेटे कमाऊ हो गये हैं। दादी अम्मा और उनके पति उपेक्षित अनुभव कर रहे हैं। यह उपेक्षा स्वाभाविक है, क्योंकि नयी पीढ़ी सोचती है कि वह अपने को देखे कि दादा या दादी-अम्मा को। असल में यह पारिवारिक महत्वाकांक्षा और पारिवारिक दायित्व के बीच का टकराव है जो नयी पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी की नजर में अमानवीय अथवा निर्मम बना देती है। निर्मम को ममत्वहीन भी कह सकते हैं। परिवार के भीतर पैदा हुई ऐसी समस्याएं आधुनिक युग और आज की पूंजीवादी व्यवस्था की उपज हैं। इसी कारण यह कहानी महत्वपूर्ण बन जाती है। कृष्णा जी भी भाषा की अपनी विशिष्टता है, जिनके उदाहरण इस कहानी में भी मिल जाते हैं।

अंत में मैं कहना चाहता हूं कि इस चयन की सीमा है, जिसे मान कर चलना मेरे लिए जरूरी है। इसलिए कोई कह सकता है कि आलोच्य दौर में क्या इतने ही कहानीकार चर्चा या चयन के योग्य हैं? तो मैं बेहिचक कहूंगा कि नहीं, इतने ही नहीं हैं और भी हैं। शिव प्रसाद सिंह, मन्नू भंडारी, उषा प्रियम्वदा, मधुकर गंगाधार आदि और भी अनेक नाम हैं, जो ध्यान खींचते हैं, जिन्होंने उल्लेखनीय लेखन किया है। मैं सबसे क्षमा याचना करते हुए यह चयन प्रस्तुत

कर रहा हूँ। इतना भरोसा मुझे है कि पाठक यह मानेंगे कि चुनी हुई कहानियां महत्वपूर्ण हैं। वे ऐसी हैं, जो आलोच्य दौर की कहानियों में नयापन लाती हैं, भले ही कुछ और महत्वपूर्ण कहानियाँ छूट गयी हों। चुनी हुई कहानियाँ उस दौर की कहानियों के जरिये हिन्दी कहानी में आयी अनुभवों की विविधता, रूप-विधान की बहुलता और भाषा के अनेक आयाम से हमारा साक्षात्कार कराती हैं। सबकी अपनी-अपनी विशिष्टता ऐसी है कि कोई दूसरे की तरह नहीं दीखता। यह हिन्दी कहानी की समृद्धि है। इन कहानियों को पढ़ते हुए आज के पाठक यह कतई नहीं महसूस करेंगे कि उन दिनों 'नयी कहानी' नाम से कोई आन्दोलन भी चला था, और मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव एवं कमलेश्वर उस आंदोलन के अगुआ थे। काल की गति ने उस आन्दोलन को ठिकाने लगा दिया है और वह हिन्दी कहानी के नयेपन को भिन्न ढंग से पाठकों के सामने पेश करती है। 'नयी कहानी' नाम से चले आन्दोलन को तो नामवर जी ने ही निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' को समकालीनों से अलग कहकर, पुराने दायरे और स्थूल सामाजिक संघर्ष को छोड़ने का पहला श्रेय देकर ही तथाकथित नयी कहानी को 'पंक्चर' कर दिया था। लेकिन एक बात मेरे दिमाग में आती है कि निर्मल की कहानी 'परिन्दे' के पात्र सामान्य जीवन, यहां तक कि हिन्दी के सामान्य पाठकों की भी जिन्दगी से ऊपर के या उनसे ऊंचे स्तर के हैं। यह इसी की नहीं, आमतौर से निर्मल की तमाम कहानियों में हम देखते हैं। उनकी समस्या अथवा उलझन सामान्य से ऊपर की हैं, उनका पूरा परिवेश ही आसामान्य है। इसलिए निर्मल के चरित्र पाठकों की स्मृति में जगह नहीं बना पाते। यह कहना क्या सही है कि चरित्र वहीं याद आते हैं, जहां भाव कमजोर होता है?

गुलेरी जी की कहानी उसने कहा था का लहना सिंह क्या इसीलिए याद रहता है कि वहां भाव कमजोर है? 'उसने कहा था' में प्रेम का भाव अत्यंत मजबूत है, क्योंकि उसी की प्रेरणा से लहना सिंह अपनी जान को खतरे में डालकर सूबेदारनी की कही हुई बात की रक्षा के लिए सूबेदार को पहले शिविर में भेज देता है। लहना सिंह मर गया, दुश्मन की गोली से नहीं, प्रेम की रक्षा, करने के लिए। मेरे विचार से 'परिन्दे' के पात्रों की व्यथा विशिष्ट जीवन जीने वाले पात्रों की व्यथा विशिष्ट जीवन जीने वाले पात्रों की व्यथा है, सामान्य जीवन की विशिष्ट व्यथा नहीं है वह।

आज जब हम पीछे उलट कर हिन्दी कहानी को देखते हैं, तो भीष्म साहनी, अमरकांत, शेखर जोशी, हरिशंकर परसाई, रेणु, आदि हिन्दी कहानी को अधिक समृद्ध करते दिखायी पड़ते हैं। जो हो, यह कह कर मैं यह 'भूमिका' समाप्त कर रहा हूं कि स्वातंत्रयोत्तर कहानियों में वास्तव में जीवन-स्थिति, संवेदनशीलता, समस्या, कथ्य, चरित्र या पात्र और भाषा के स्वरूप में विविधतापूर्ण सार्थक प्रयोग किये गये हैं। इस चयन की कहानियाँ उस दौर की मनोदशाओं का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है।

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस ने 'हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, श्रृंखला का प्रकाशन करने की योजना बनाकर उसे कार्यान्वित किया है, यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। मेरा ख्याल है कि इससे स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी कहानी के विकास-क्रम को समझने में सुविधा और आसानी होगी। यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दी-कहानी के इतिहास ने सौ वर्ष से कुछ ही वर्ष अधिक पूरे किये हैं। इतने कम समय में हिन्दी-कहानी ने अनेक तरह से जो समृद्धि हासिल की है, वह अभूतपूर्व है। पाठक इससे लाभान्वित होंगे, तो यह प्रकाशन-योजना सार्थक होगी। हम पाठकों की चिंता से मुक्त कहानी या कहानीकार के पक्ष में नहीं है। इसलिए हम पाठकों की प्रतिक्रिया का स्वागत करेंगे। पीपीएच के योजनाकारों और प्रबंधकों को इसके प्रकाशन के लिए धन्यवाद

**खगेन्द्र ठाकुर**

# अनुक्रम

# डिप्टी-कलक्टरी

**अमरकांत**

शकलदीप बाबू कहीं एक घंटे बाद वापस लौटे। घर में प्रवेश करने के पूर्व उन्होंने ओसारे के कमरे में झाँका, कोई भी मुवक्किल नहीं था और मुहर्रिर साहब भी गायब थे। वह भीतर चले गए और अपने कमरे के सामने ओसारे में खड़े होकर बंदर की भाँति आँखे मलका-मलकाकर उन्होंने रसोईघर की ओर देखा। उनकी पत्नी जमुना, चौके के पास पीढ़े पर बैठी होंठ-पर-होंठ दबाये मुँह फुलाए तरकारी काट रही थी। वह मंद-मंद मुस्कुराते हुए अपनी पत्नी के पास चले गए। उनके मुख पर असाधारण संतोष, विश्वास एवं उत्साह का भाव अंकित था। एक घंटे पूर्व ऐसी बात नही थी।

बात इस प्रकार आरंभ हुई। शकलदीप बाबू सबेरे दातौन-कुल्ला करने के बाद अपने कमरे में बैठे ही थे कि जमुना ने एक तश्तरी में दो जलेबियाँ नाश्ते के लिए सामने रख दीं। वह बिना कुछ बोले जलपान करने लगे।

जमुना पहले तो एक-आध मिनट चुप रही। फिर पति के मुख की ओर उड़ती नज़र से देखने के बाद उसने बात छेड़ी, "दो-तीन दिन से बबुआ बहुत उदास रहते हैं।"

"क्या?" सिर उठाकर शकलदीप बाबू ने पूछा और उनकी भौंहे तन गईं।

जमुना ने व्यर्थ में मुस्कराते हुए कहा, "कल बोले, इस साल डिप्टी-कलक्टरी की बहुत-सी जगहें हैं, पर बाबूजी से कहते डर लगता है। कह रहे थे, दो-चार दिन में फीस भेजने की तारीख बीत जाएगी।



शकलदीप बाबू का बड़ा लड़का नारायण, घर में बबुआ के नाम से ही पुकारा जाता था। उम्र उसकी लगभग 24 वर्ष की थी। पिछले तीन-चार साल से बहुत-सी परीक्षाओं में बैठने, एम.एल.ए. लोगों के दरवाजों के चक्कर लगाने तथा और भी उल्टे-सीधे फन इस्तेमाल करने के बावजूद उसको अब तक कोई नौकरी नहीं मिल सकी थी। दो बार डिप्टी-कलक्टरी के इम्तहान में भी वह बैठ चुका था, पर दुर्भाग्य! अब एक अवसर उसे और मिलना था, जिसको वह छोड़ना न चाहता था, और उसे विश्वास था कि चूँकि जगहें काफी हैं और वह अबकी जी-जान से परिश्रम करेगा, इसलिए बहुत संभव है कि वह ले लिया जाए।

शकलदीप बाबू मुख्तार थे। लेकिन इधर डेढ़-दो साल से मुख्तारी की गाड़ी उनके चलाए न चलती थी। बुढ़ौती के कारण अब उनकी आवाज में न वह तड़प रह गई थी, न शरीर में वह ताकत और न चाल में वह अकड़, इसलिए मुवक्किल उनके यहाँ कम ही पहुँचते। कुछ तो आकर भी भड़क जाते। इस हालत में वह राम का नाम लेकर कचहरी जाते, अक्सर कुछ पा जाते, जिससे दोनों जून चौका-चूल्हा चल जाता।

जमुना की बात सुनकर वह एकदम बिगड़ गए। क्रोध से उनका मुँह विकृत हो गया और वह सिर को झटकते हुए, कटाह कुकुर की तरह बोले, "तो मैं क्या करूँ? मैं तो हैरान-परेशान हो गया हूँ। तुम लोग मेरी जान लेने पर तुले हुए हो। साफ-साफ सुन लो, मैं तीन बार कहता हूँ, मुझे नहीं होगा, मुझसे नहीं होगा, मुझसे नहीं होगा।"

जमुना कुछ न बोली, क्योंकि वह जानती थी कि पति का क्रोध करना स्वाभाविक है।

शकलदीप बाबू एक-दो क्षण चुप रहे, फिर दाएँ हाथ को ऊपर-नीचे नचाते हुए बोले, "फिर इसकी गारंटी ही क्या है कि इस दफे बाबू साहब ले ही लिए जाएँगे? मामूली ए.जी. ऑफिस की क्लर्की में तो पूछे नहीं गए, डिप्टी-कलक्टरी

में कौन पूछेगा? आप में क्या खूबी है, साहब, कि आप डिप्टी-कलक्टर हो ही जाएँगे? थर्ड क्लास बी.ए. आप हैं, चौबीसों घंटे मटरगश्ती आप करते हैं, दिन-रात सिगरेट आप फूँकते हैं। आप में कौन-से सुर्खाब के पर लगे हैं? बड़े-बड़े बह गए, गदहा पूछे कितना पानी! फिर करम-करम की बात होती है। भाई, समझ लो, तुम्हारे करम में नौकरी लिखी ही नहीं। अरे हाँ, अगर सभी कुकुर काशी ही सेवेंगे तो हँडिया कौन चाटेगा? डिप्टी-कलक्टरी, डिप्टी-कलक्टरी! सच पूछो, तो डिप्टी-कलक्टरी नाम से मुझे घृणा हो गई है!" और होंठ बिचक गए।

जमुना ने अब मृदु स्वर में उनके कथन का प्रतिवाद किया, "ऐसी कुभाषा मुँह से नहीं निकालनी चाहिए। हमारे लड़के में दोष ही कौन-सा है? लाखों में एक है। सब्र की सौ धार, मेरा तो दिल कहता है इस बार बबुआ जरूर ले लिए जाएँगे। फिर पहली भूख-प्यास का लड़का है, माँ-बाप का सुख तो जानता ही नहीं। इतना भी नहीं होगा, तो उसका दिल टुट जाएगा। यों ही न मालूम क्यों हमेशा उदास रहता है, ठीक से खाता-पीता नहीं, ठीक से बोलता नहीं, पहले की तरह गाता-गुनगुनाता नहीं। न मालूम मेरे लाड़ले को क्या हो गया है।" अंत में उसका गला भर आया और वह दूसरी ओर मुँह करके आँखों में आए आँसुओं को रोकने का प्रयास करने लगी।

जमुना को रोते हुए देखकर शकलदीप बाबू आपे से बाहर हो गए। क्रोध तथा व्यंग से मुँह चिढ़ाते हुए बोले, "लड़का है तो लेकर चाटो! सारी खुराफात की जड़ तुम ही हो, और कोई नहीं! तुम मुझे जिंदा रहने देना नहीं चाहतीं, जिस दिन मेरी जान निकलेगी, तुम्हारी छाती ठंडी होगी!" वह हाँफने लगे।

उन्होंने जमुना पर निर्दयतापूर्वक ऐसा जबरदस्त आरोप किया था, जिसे वह सह न सकी। रोती हुई बोली, "अच्छी बात है, अगर मैं सारी खुराफात की जड़ हूँ तो मैं कमीनी की बच्ची, जो आज से कोई बात..." रुलाई के मारे वह आगे न बोल सकी और तेजी से कमरे से बाहर निकल गई।



शकलदीप बाबू कुछ नहीं बोले, बल्कि वहीं बैठे रहे। मुँह उनका तना हुआ था और गर्दन टेढ़ी हो गई थी। एक-आध मिनट तक उसी तरह बैठे रहने के पश्चात वह जमीन पर पड़े अखबार के एक फटे-पुराने टुकड़े को उठाकर इस तल्लीनता से पढ़ने लगे, जैसे कुछ भी न हुआ हो।

लगभग पंद्रह-बीस मिनट तक वह उसी तरह पढ़ते रहे। फिर अचानक उठ खड़े हुए। उन्होंने लुंगी की तरह लिपटी धोती को खोलकर ठीक से पहन लिया और ऊपर से अपना पारसी कोट डाल लिया, जो कुछ मैला हो गया था और जिसमें दो चिप्पयाँ लगी थीं, और पुराना पंप शू पहन, हाथ में छड़ी ले, एक-दो बार खाँसकर बाहर निकल गए।

पति की बात से जमुना के हृदय को गहरा आघात पहुँचा था। शकलदीप बाबू को बाहर जाते हुए उसने देखा, पर वह कुछ नहीं बोली। वह मुंह फुलाए चुपचाप घर के अटरम-सटरम काम करती रही। और एक घंटे बाद भी जब शकलदीप बाबू बाहर से लौट उसके पास आकर खड़े हुए, तब भी वह कुछ न बोली, चुपचाप तरकारी काटती रही।

शकलदीप बाबू ने खाँसकर कहा, "सुनती हो, यह डेढ़ सौ रुपए रख लो। करीब सौ रुपए बबुआ की फीस में लगेंगे और पचास रुपए अलग रख देना, कोई और काम आ पडे।"

जमुना ने हाथ बढ़ाकर रुपए तो अवश्य ले लिए, पर अब भी कुछ नहीं बोली।

लेकिन शकलदीप बाबू अत्यधिक प्रसन्न थे और उन्होंने उत्साहपूर्ण आवाज में कहा, "सौ रुपए बबुआ को दे देना, आज ही फीस भेज दें। होंगे, जरूर होंगे, बबुआ डिप्टी-कलक्टर अवश्य होंगे। कोई कारण ही नहीं कि वह न लिए जाएँ। लड़के के जेहन में कोई खराबी थोड़े है। राम-राम!... नहीं, चिंता की कोई बात नहीं। नारायण जी इस बार भगवान की कृपा से डिप्टी-कलक्टर अवश्य होंगे।"

जमुना अब भी चुप रही और रुपयों को ट्रंक में रखने के लिए उठकर अपने कमरे में चली गई।

शकलदीप बाबू अपने कमरे की ओर लौट पड़े। पर कुछ दूर जाकर फिर घूम पड़े और जिस कमरे में जमुना गई थी, उसके दरवाजे के सामने आकर खड़े हो गए और जमुना को ट्रंक में रुपए बंद करते हुए देखते रहे। फिर बोले, "गलती किसी की नहीं। सारा दोष तो मेरा है। देखो न, मैं बाप होकर कहता हूँ कि लड़का नाकाबिल है! नहीं, नहीं, सारी खुराफात की जड़ मैं ही हूँ, और कोई नहीं।"

एक-दो क्षण वह खड़े रहे, लेकिन तब भी जमुना ने कोई उत्तर नहीं दिया तो कमरे में जाकर वह अपने कपड़े उतारने लगे।

नारायण ने उसी दिन डिप्टी-कलक्टरी की फीस तथा फार्म भेज दिये।

दूसरे दिन आदत के खिलाफ प्रातःकाल ही शकलदीप बाबू की नींद उचट गई। वह हड़बड़ाकर आँखें मलते हुए उठ खड़े हुए और बाहर ओसारे में आकर चारों ओर देखने लगे। घर के सभी लोग निद्रा में निमग्न थे। सोए हुए लोगों की साँसों की आवाज और मच्छरों की भनभन सुनाई दे रही थी। चारों ओर अँधेरा था। लेकिन बाहर के कमरे से धीमी रोशनी आ रही थी। शकलदीप बाबू चौंक पड़े और पैरों को दबाए कमरे की ओर बढ़े।

उनकी उम्र पचास के ऊपर होगी। वह गोरे, नाटे और दुबले-पतले थे। उनके मुख पर अनगिनत रेखाओं का जाल बुना था और उनकी बाँहों तथा गर्दन पर चमड़े झूल रहे थे।

दरवाजे के पास पहुँचकर, उन्होंने पंजे के बल खड़े हो, होंठ दबाकर कमरे के अंदर झाँका। उनका लड़का नारायण मेज पर रखी लालटेन के सामने सिर झुकाए ध्यानपूर्वक कुछ पढ़ रहा था।



शकलदीप बाबू कुछ देर तक आँखों को साश्चर्य फैलाकर अपने लड़के को देखते रहे, जैसे किसी आनंददायी रहस्य का उन्होंने अचानक पता लगा लिया हो। फिर वह चुपचाप धीरे-से पीछे हट गए और वहीं खड़े होकर ज़रा मुस्कराए और फिर दबे पाँव धीरे-धीरे वापस लौटे और अपने कमरे के सामने ओसारे के किनारे खड़े होकर आसमान को उत्सुकतापूर्वक निहारने लगे।

उनकी आदत छह, साढ़े छह बजे से पहले उठने की नहीं थी। लेकिन आज उठ गए थे, तो मन अप्रसन्न नहीं हुआ। आसमान में तारे अब भी चटक दिखाई दे रहे थे, और बाहर के पेड़ों को हिलाती हुई और खपड़े को स्पर्श करके आँगन में न मालूम किस दिशा से आती जाती हवा उनको आनंदित एवं उत्साहित कर रही थी। वह पुनः मुस्करा पड़े और उन्होंने धीरे-से फुसफुसाया, "चलो, अच्छा ही है।"

और अचानक उनमें न मालूम कहाँ का उत्साह आ गया। उन्होंने उसी समय ही दातौन करना शुरू कर दिया। इन कार्यों से निबटने के बाद भी अँधेरा ही रहा, तो बाल्टी में पानी भरा और उसे गुसलखाने में ले जाकर स्नान करने लगे। स्नान से निवृत्त होकर जब वह बाहर निकले, तो उनके शरीर में एक अपूर्व ताजगी तथा मन में एक अवर्णनीय उत्साह था।

यद्यपि उन्होंने अपने सभी कार्य चुपचाप करने की कोशिश की थी, तो भी देह दुर्बल होने के कारण कुछ खटपट हो गई, जिसके परिणामस्वरूप उनकी पत्नी की नींद खुल गई। जमुना को तो पहले चोर-वोर का संदेह हुआ, लेकिन उसने झटपट आकर जब देखा, तो आश्चर्यचकित हो गई। शकलदीप बाबू आँगन में खड़े-खड़े आकाश को निहार रहे थे।

जमुना ने चिंतातुर स्वर में कहा, "इतनी जल्दी स्नान की जरूरत क्या थी? इतना सबेरे तो कभी भी नहीं उठा जाया जाता था? कुछ हो-हवा गया, तो?"

शकलदीप बाबू झेंप गए। झूठी हँसी हँसते हुए बोले, "धीरे-धीरे बोलो, भाई, बबुआ पढ़ रहे हैं।"

जमुना बिगड़ गई, "धीरे-धीरे क्यों बोलूँ, इसी लच्छन से परसाल बीमार पड़ जाया गया था।"

शकलदीप बाबू को आशंका हुई कि इस तरह बातचीत करने से तकरार बढ़ जाएगा, शोर-शराबा होगा, इसलिए उन्होंने पत्नी की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह पीछे घूम पड़े और अपने कमरे में आकर लालटेन जलाकर चुपचाप रामायण का पाठ करने लगे।

पूजा समाप्त करके जब वह उठे, तो उजाला हो गया था। वह कमरे से बाहर निकल आए। घर के बड़े लोग तो जाग गए थे, पर बच्चे अभी तक सोए थे।

जमुना भंडार-घर में कुछ खटर-पटर कर रही थी। शकलदीप बाबू ताड़ गए और वह भंडार-घर के दरवाजे के सामने खड़े हो गए और कमर पर दोनों हाथ रखकर कुतूहल के साथ अपनी पत्नी को कुंडे में से चावल निकालते हुए देखते रहे।

कुछ देर बाद उन्होंने प्रश्न किया, "नारायण की अम्मा, आजकल तुम्हारा पूजा-पाठ नहीं होता क्या?" और झेंपकर वह मुस्कराए।

शकलदीप बाबू इसके पूर्व सदा राधास्वामियों पर बिगड़ते थे और मौका-बेमौका उनकी कड़ी आलोचना भी करते थे। इसको लेकर औरतों में कभी-कभी रोना-पीटना तक भी हो जाता था। इसलिए आज भी जब शकलदीप बाबू ने पूजा-पाठ की बात की, तो जमुना ने समझा कि वह व्यंग कर रहे हैं। उसने भी प्रत्युत्तर दिया, "हम लोगों को पूजा-पाठ से क्या मतलब? हमको तो नरक में ही जाना है। जिनको सरग जाना हो, वह करें!"

"लो बिगड़ गईं," शकलदीप बाबू मंद-मंद मुस्कराते हुए झट-से बोले, "अरे, मैं मजाक थोड़े कर रहा था! मैं बड़ी गलती पर था, राधास्वामी तो बड़े प्रभावशाली देवता हैं।"

जमुना को राधास्वामी को देवता कहना बहुत बुरा लगा और वह तिनककर



बोली, "राधास्वामी को देवता कहते हैं? वह तो परमपिता परमेसर हैं, उनका लोक सबसे ऊपर है, उसके नीचे ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश के लोक आते हैं।"

"ठीक है, ठीक है, लेकिन कुछ पूजा-पाठ भी करोगी? सुनते हैं सच्चे मन से राधास्वामी की पूजा करने से सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं।" शकलदीप बाबू उत्तर देकर काँपते होंठों में मुस्कराने लगे।

जमुना ने पुनः भुल-सुधार किया, "इसमें दिखाना थोड़े होता है; मन में नाम ले लिया जाता है। सभी मनोरथ बन जाते हैं और मरने के बाद आत्मा परमपिता में मिल जाती है। फिर चौरासी नहीं भुगतना पड़ता।"

शकलदीप बाबू ने सोत्साह कहा, "ठीक है, बहुत अच्छी बात है। जरा और सबेरे उठकर नाम ले लिया करो। सुबह नहाने से तबीयत दिन-भर साफ रहती है। कल से तुम भी शुरू कर दो। मैं तो अभागा था कि मेरी आँखें आज तक बंद रही। खैर, कोई बात नहीं, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, कल से तुम भी सवेरे चार बजे उठ जाना।"

उनको भय हुआ कि जमुना कहीं उनके प्रस्ताव का विरोध न करे, इसलिए इतना कहने के बाद वह पीछे घूमकर खिसक गए। लेकिन अचानक कुछ याद करके वह लौट पड़े।

पास आकर उन्होंने पत्नी से मुस्कराते हुए पूछा, "बबुआ के लिए नाश्ते का इंतजाम क्या करोगी?"

"जो रोज होता है, वहीं होगा, और क्या होगा?" उदासीनतापूर्वक जमुना ने उत्तर दिया।

"ठीक है, लेकिन आज हलवा क्यों नहीं बना लेतीं? घर का बना सामान अच्छा होता है। और कुछ मेवे मँगा लो।"

"हलवे के लिए घी नहीं है। फिर इतने पैसे कहाँ हैं?" जमुना ने मजबूरी जाहिर की।

"पचास रुपए तो बचे हैं न, उसमें से खर्च करो। अन्न-जल का शरीर, लड़के को ठीक से खाने-पीने का न मिलेगा, तो वह इम्तहान क्या देगा? रुपए की चिंता मत करो, मैं अभी जिंदा हूँ!" इतना कहकर शकलदीप बाबू ठहाका लगाकर हँस पड़े।

वहाँ से हटने के पूर्व वह पत्नी को यह भी हिदायत देते गए, "एक बात और करो। तुम लड़के लोगों से डाँटकर कह देना कि वे बाहर के कमरे में जाकर बाजार न लगाएँ, नहीं तो मार पड़ेगी। हाँ, पढ़ने में बाधा पहुँचेगी। दूसरी बात यह कि बबुआ से कह देना, वह बाहर के कमरे में बैठकर इत्मीनान से पढ़ें, मैं बाहर सहन में बैठ लूँगा।"

शकलदीप बाबू सबेरे एक-डेढ़ घंटे बाहर के कमरे में बैठते थे। वहाँ वह मुवक्किलों के आने की प्रतीक्षा करते और उन्हें समझाते-बुझाते।

और वह उस दिन सचमुच ही मकान के बाहर पीपल के पेड़ के नीचे, जहाँ पर्याप्त छाया रहती थी, एक मेज और कुर्सियाँ लगाकर बैठ गए। जान-पहचान के लोग वहाँ से गुजरे, तो उन्हें वहाँ बैठे देखकर आश्चर्य हुआ। जब सड़क से गुजरते हुए बब्बनलाल पेशकार ने उनसे पूछा कि 'भाई साहब, आज क्या बात है?' तो उन्होंने जोर से चिल्लाकर कहा कि 'भीतर बड़ी गर्मी है।' और उन्होंने जोकर की तरह मुँह बना दिया और अंत में ठहाका मारकर हँस पड़े, जैसे कोई बहुत बड़ा मजाक कर दिया हो।

शाम को जहाँ रोज वह पहले ही कचहरी से आ जाते थे, उस दिन देर से लौटे। उन्होंने पत्नी के हाथ में चार रुपए तो दिए ही, साथ ही दो सेब तथा कैंची सिगरेट के पाँच पैकेट भी बढ़ा दिए।

"सिगरेट क्या होगी?" जमुना ने साश्चर्य पूछा।

"तुम्हारे लिए है," शकलदीप बाबू ने धीरे-से कहा और दूसरी ओर देखकर मुस्कराने लगे, लेकिन उनका चेहरा शर्म से कुछ तमतमा गया।



जमुना ने माथे पर की साड़ी को नीचे खींचते हुए कहा, "कभी सिगरेट पी भी है कि आज ही पीऊँगी। इस उम्र में मजाक करते लाज नहीं आती?"

शकलदीप बाबू कुछ बोले नहीं और थोड़ा मुस्कराकर इधर-उधर देखने लगे। फिर गंभीर होकर उन्होंने दूसरी ओर देखते हुए धीरे-से कहा, "बबुआ को दे देना," और वह तुरंत वहाँ से चलते बने।

जमुना भौचक होकर कुछ देर उनको देखती रही, क्योंकि आज के पूर्व तो वह यही देखती आ रही थी कि नारायण के धूम्रपान के वह सख्त खिलाफ रहे हैं और इसको लेकर कई बार लड़के को डाँट-डपट चुके हैं।

उसकी समझ में कुछ न आया, तो वह यह कहकर मुस्करा पड़ी कि बुद्धि सठिया गई है।

नारायण दिन-भर पढ़ने-लिखने के बाद टहलने गया हुआ था।

शकलदीप बाबू जल्दी से कपड़े बदलकर हाथ में झाड़ू ले बाहर के कमरे में जा पहुँचे। उन्होंने धीरे-धीरे कमरे को अच्छी तरह झाड़ा-बुहारा, इसके बाद नारायण की मेज को साफ किया तथा मेजपोश को जोर-जोर से कई बार झाड़-फटककर सफाई के साथ उस पर बिछा दिया। अंत में नारायण की चारपाई पर पड़े बिछौने को खोलकर उसमें की एक-एक चीज को झाड़-फटकारकर यत्नपूर्वक बिछाने लगे।

इतने में जमुना ने आकर देखा, तो मृदु स्वर में कहा, "कचहरी से आने पर यही काम रह गया है क्या? बिछौना रोज बिछ ही जाता है और कमरे की महरिन सफाई कर ही देती है।"

"अच्छा, ठीक है। मैं अपनी तबीयत से कर रहा हूँ, कोई जबरदस्ती थोड़ी है।" शकलदीप बाबू के मुख पर हल्के झेंप का भाव अंकित हो गया था और वह अपनी पत्नी की ओर न देखते हुए ऐसी आवाज में बोले, जैसे उन्होंने अचानक यह कार्य आरंभ कर दिया था- और जब इतना कर ही लिया है, तो बीच में छोड़ने से क्या लाभ, पूरा ही कर लें।

कचहरी से आने के बाद रोज का उनका नियम यह था कि वह कुछ नाश्ता-पानी करके चारपाई पर लेट जाते थे। उनको अक्सर नींद आ जाती थी और वह लगभग आठ बजे तक सोते रहते थे। यदि नींद न भी आती, तो भी वह इसी तरह चुपचाप पड़े रहते थे।

"नाश्ता तैयार है," यह कहकर जमुना वहाँ से चली गई।

शकलदीप बाबू कमरे को चमाचम करने, बिछौने लगाने तथा कुर्सियों को तरतीब से सजाने के पश्चात आँगन में आकर खड़े हो गए और बेमतलब ठनककर हँसते हुए बोले, "अपना काम सदा अपने हाथ से करना चाहिए, नौकरों का क्या ठिकाना?"

लेकिन उनकी बात पर संभवतः किसी ने ध्यान नहीं दिया और न उसका उत्तर ही।

धीरे-धीरे दिन बीतते गए और नारायण कठिन परिश्रम करता रहा।

कुछ दिनों से शकलदीप बाबू सायंकाल घर से लगभग एक मील की दूरी पर स्थित शिवजी के एक मंदिर में भी जाने लगे थे। वह बहुत चलता मंदिर था और उसमें भक्तजनों की बहुत भीड़ होती थी। कचहरी से आने के बाद वह नारायण के कमरे को झाड़ते-बुहारते, उसका बिछौना लगाते, मेज-कुर्सियाँ सजाते और अंत में नाश्ता करके मंदिर के लिए रवाना हो जाते। मंदिर में एक-डेढ़ घंटे तक रहते और लगभग दस बजे घर आते।

एक दिन जब वह मंदिर से लौटे, तो साढ़े दस बज गए थे। उन्होंने दबे पाँव ओसारे में पाँव रखा और अपनी आदत के अनुसार कुछ देर तक मुस्कराते हुए झाँक-झाँककर कोठरी में नारायण को पढ़ते हुए देखते रहे।

फिर भीतर जा अपने कमरे में छड़ी रखकर, नल पर हाथ-पैर धोकर, भोजन के लिए चौके में जाकर बैठ गए।

पत्नी ने खाना परोस दिया। शकलदीप बाबू ने मुँह में कौर चुभलाते हुए पूछा, "बबुआ को मेवे दे दिए थे?"



वह आज सायंकाल जब कचहरी से लौटे थे, तो मेवे लेते आए थे। उन्होंने मेवे को पत्नी के हवाले करते हुए कहा था कि इसे सिर्फ नारायण को ही देना, और किसी को नहीं।

जमुना को झपकी आ रही थी, लेकिन उसने पति की बात सुन ली, चौंककर बोली, "कहाँ? मेवा ट्रंक में रख दिया था, सोचा था, बबुआ घूमकर आएँगे तो चुपके से दे दूँगी। पर लड़के तो दानव-दूत बने हुए हैं, ओना-कोना, अँतरा-सँतरा, सभी जगह पहुँच जाते हैं। टुटटुन ने कहीं से देख लिया और उसने सारा-का सारा खा डाला।"

टुनटुन शकलदीप बाबू का सबसे छोटा बारह वर्ष का अत्यंत ही नटखट लड़का था।

"क्यों?" शकलदीप बाबू चिल्ला पड़े। उनका मुँह खुल गया था और उनकी जीभ पर रोटी का एक छोटा टुकड़ा दृष्टिगोचर हो रहा था।

जमुना कुछ न बोली।

अब शकलदीप बाबू ने गुस्से में पत्नी को मुँह चिढ़ाते हुए कहा, "खा गया, खा गया! तुम क्यों न खा गई! तुम लोगों के खाने के लिए ही लाता हूँ न? हूँ! खा गया!"

जमुना भी तिनक उठी, "तो क्या हो गया? कभी मेवा-मिश्री, फल-मूल तो उनको मिलता नहीं, बेचारे खुद्दी-चुन्नी जो कुछ मिलता है, उसी पर सब्र बाँधे रहते हैं। अपने हाथ से खरीदकर कभी कुछ दिया भी तो नहीं गया। लड़का ही तो है, मन चल गया, खा लिया। फिर मैंने उसे बहुत मारा भी, अब उसकी जान तो नहीं ले लूँगी।"

"अच्छा तो खाओ तुम और तुम्हारे लड़के! खूब मजे में खाओ! ऐसे खाने पर लानत है!" वह गुस्से से थर-थर काँपते हुए चिल्ला पड़े और फिर चौके से उठकर कमरे में चले गए।

जमुना भय, अपमान और गुस्से से रोने लगी। उसने भी भोजन नहीं किया और वहाँ से उठकर चारपाई पर मुँह ढँककर पड़ रही।

लेकिन दूसरे दिन प्रातःकाल भी शकलदीप बाबू का गुस्सा ठंडा न हुआ और उन्होंने नहाने-धोने तथा पूजा-पाठ करने के बाद सबसे पहला काम यह किया कि जब टुनटुन जागा, तो उन्होंने उसको अपने पास बुलाया और उससे पूछा कि उसने मेवा क्यों खाया? जब उसको कोई उत्तर न सूझा और वह भक्कू बनकर अपने पिता की ओर देखने लगा, तो शकलदीप बाबू ने उसे कई तमाचे जड़ दिए।

डिप्टी-कलक्टरी की परीक्षा इलाहाबाद में होनेवाली थी और वहाँ रवाना होने के दिन आ गए। इस बीच नारायण ने इतना अधिक परिश्रम किया कि सभी आश्चर्यचकित थे। वह अट्ठारह-उन्नीस घंटे तक पढ़ता। उसकी पढ़ाई में कोई बाधा उपस्थित नहीं होने पाती, बस उसे पढ़ना था। उसका कमरा साफ मिलता, उसका बिछौना बिछा मिलता, दोनों जून गाँव के शुद्ध घी के साथ दाल-भात, रोटी, तरकारी मिलती। शरीर की शक्ति तथा दिमाग की ताजगी को बनाए रखने के लिए नाश्ते में सबेरे हलवा-दूध तथा शाम को मेवे या फल। और तो और, लड़के की तबीयत न उचटे, इसलिए सिगरेट की भी समुचित व्यवस्था थी। जब सिगरेट के पैकेट खत्म होते, तो जमुना उसके पास चार-पाँच पैकेट और रख आती।

जिस दिन नारायण को इलाहाबाद जाना था, शकलदीप बाबू की छुट्टी थी और वे सबेरे ही घूमने निकल गए। वह कुछ देर तक कंपनी गार्डन में घूमते रहे, फिर वहाँ तबीयत न लगी, तो नदी के किनारे पहुँच गए। वहाँ भी मन न लगा, तो अपने परम मित्र कैलाश बिहारी मुख्तार के यहाँ चले गए। वहाँ बहुत देर तक गप-सड़ाका करते रहे, और जब गाड़ी का समय निकट आया, तो जल्दी-जल्दी घर आए।

गाड़ी नौ बजे खुलती थी। जमुना तथा नारायण की पत्नी निर्मला ने सबेरे



ही उठकर जल्दी-जल्दी खाना बना लिया था। नारायण ने खाना खाया और सबको प्रणाम कर स्टेशन को चल पड़ा। शकलदीप बाबू भी स्टेशन गए।

नारायण को विदा करने के लिए उसके चार-पाँच मित्र भी स्टेशन पर पहुँचे थे। जब तक गाड़ी नहीं आई थी, नारायण प्लेटफार्म पर उन मित्रों से बातें करता रहा। शकलदीप बाबू अलग खड़े इधर-उधर इस तरह देखते रहे, जैसे नारायण से उनका कोई परिचय न हो। और जब गाड़ी आई और नारायण अपने पिता तथा मित्रों के सहयोग से गाड़ी में पूरे सामान के साथ चढ़ गया, तो शकलदीप बाबू वहाँ से धीरे-से खिसक गए और व्हीलर के बुकस्टाल पर जा खड़े हुए।

बुकस्टाल का आदमी जान-पहचान का था, उसने नमस्कार करके पूछा, "कहिए, मुख्तार साहब, आज कैसे आना हुआ?"

शकलदीप बाबू ने संतोषपूर्वक मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "लड़का इलाहाबाद जा रहा है, डिप्टी-कलक्टरी का इम्तहान देने। शाम तक पहुँच जाएगा। ड्योढ़े दर्जे के पास जो डिब्बा है न, उसी में है। नीचे जो चार-पाँच लड़के खड़े हैं, वे उसके मित्र है। सोचा, भाई हम लोग बूढ़े ठहरे, लड़के इम्तहान-विम्तहान की बात कर रहे होंगे, क्या समझेंगे, इसलिए इधर चला आया।" उनकी आँखे हास्य से संकुचित हो गईं।

वहाँ वह थोड़ी देर तक रहे। इसके बाद जाकर घड़ी में समय देखा, कुछ देर तक तारघर के बाहर तार बाबू को खटर-पटर करते हुए निहारा और फिर वहाँ से हटकर रेलगाड़ियों के आने-जाने का टाइम-टेबुल पढ़ने लगे। लेकिन उनका ध्यान संभवतः गाड़ी की ओर ही था, क्योंकि जब ट्रेन खुलने की घंटी बजी, तो वहाँ से भागकर नारायण के मित्रों के पीछे आ खड़े हुए।

नारायण ने जब उनको देखा, तो उसने झटपट नीचे उतरकर पैर छूए।

"खुश रहो, बेटा, भगवान तुम्हारी मनोकामना पूरी करे!" उन्होंने लड़के से बुदबुदाकर कहा और दूसरी ओर देखने लगे।

नारायण बैठ गया और अब गाड़ी खुलने ही वाली थी। अचानक शकलदीप बाबू का दाहिना हाथ अपने कोट की जेब से कोई चीज लगभग बाहर निकाल ली, और वह कुछ आगे भी बढ़े, लेकिन फिर न मालूम क्या सोचकर रुक गए। उनका चेहरा तमतमा-सा गया और जल्दीबाजी में वह इधर-उधर देखने लगे।

गाड़ी सीटी देकर खुल गई तो शकलदीप बाबू चौंक उठे। उन्होंने जेब से वह चीज निकालकर मुट्ठी में बाँध ली और उसे नारायण को देने के लिए दौड़ पड़े।

वह दुर्बल तथा बूढ़े आदमी थे, इसलिए उनसे तेज क्या दौड़ा जाता, वह पैरों में फूर्ती लाने के लिए अपने हाथों को इस तरह भाँज रहे थे, जैसे कोई रोगी, मरियल लड़का अपने साथियों के बीच खेल-कूद के दौरान कोई हल्की-फुल्की शरारत करने के बाद तेजी से दौड़ने के लिए गर्दन को झुकाकर हाथों को चक्र की भाँति घुमाता है। उनके पैर थप-थप की आवाज के साथ प्लेटफार्म पर गिर रहे थे, और उनकी हरकतों का उनके मुख पर कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था, बस यही मालूम होता कि वह कुछ परेशान हैं। प्लेटफार्म पर एकत्रित लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो गया। कुछ लोगों ने मौज में आकर जोर से ललकारा, कुछ ने किलकारियाँ मारीं और कुछ लोगों ने दौड़ के प्रति उनकी तटस्थ मुद्रा को देखकर बेतहाशा हँसना आरंभ किया। लेकिन यह उनका सौभाग्य ही था कि गाड़ी अभी खुली ही थी और स्पीड में नहीं आई थी। परिणामस्वरूप उनका हास्यजनक प्रयास सफल हुआ और उन्होंने डिब्बे के सामने पहुँचकर उत्सुक तथा चिंतित मुद्रा में डिब्बे से सिर निकालकर झाँकते हुए नारायण के हाथ में एक पुड़िया देते हुए कहा, "बेटा, इसे श्रद्धा के साथ खा लेना, भगवान शंकर का प्रसाद है।"

पुड़िया में कुछ बताशे थे, जो उन्होंने कल शाम को शिवजी को चढ़ाए थे और जिसे पता नहीं क्यों, नारायण को देना भूल गए थे।

नारायण के मित्र कुतूहल से मुस्कराते हुए उनकी ओर देख रहे थे, और जब वह पास आ गए, तो एक ने पूछा, "बाबू जी, क्या बात थी, हमसे कह देते।"



शकलदीप बाबू यह कहकर कि, "कोई बात नहीं, कुछ रुपए थे, सोचा, मैं ही दे दूँ, तेजी से आगे बढ़ गए।"

परीक्षा समाप्त होने के बाद नारायण घर वापस आ गया। उसने सचमुच पर्चे बहुत अच्छे किए थे और उसने घरवालों से साफ-साफ कह दिया कि यदि कोई बेईमानी न हुई, तो वह इंटरव्यू में अवश्य बुलाया जाएगा। घरवालों की बात तो दूसरी थी, लेकिन जब मुहल्ले और शहर के लोगों ने यह बात सुनी, तो उन्होंने विश्वास नहीं किया। लोग व्यंग में कहने लगे, हर साल तो यही कहते हैं बच्चू! वह कोई दूसरे होते हैं, जो इंटरव्यू में बुलाए जाते हैं!

लेकिन बात नारायण ने झूठ नहीं कही थी, क्योंकि एक दिन उसके पास सूचना आई कि उसको इलाहाबाद में प्रादेशिक लोक सेवा आयोग के समक्ष इंटरव्यू के लिए उपस्थित होना है।

यह समाचार बिजली की तरह सारे शहर में फैल गया। बहुत साल बाद इस शहर से कोई लड़का डिप्टी-कलक्टरी के इंटरव्यू के लिए बुलाया गया था। लोगों में आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

सायंकाल कचहरी से आने पर शकलदीप बाबू सीधे आँगन में जा खड़े हो गए और जोर से ठठाकर हँस पड़े। फिर कमरे में जाकर कपड़े उतारने लगे।

शकलदीप बाबू ने कोट को खूँटी पर टाँगते हुए लपककर आती हुई जमुना से कहा, "अब करो न राज! हमेशा शोर मचाए रहती थी कि यह नहीं है, वह नहीं है! यह मामूली बात नहीं है कि बबुआ इंटरव्यू में बुलाए गए हैं, आया ही समझो!"

"जब आ जाएँ, तभी न," जमुना ने कंजूसी से मुस्कराते हुए कहा।

शकलदीप बाबू थोड़ा हँसते हुए बोल, "तुमको अब भी संदेह है? लो, मैं कहता हूँ कि बबुआ जरूर आएँगे, जरूर आएँगे! नहीं आए, तो मैं अपनी मूँछ मुड़वा दूँगा। और कोई कहे या न कहे, मैं तो इस बात को पहले से ही जानता

हूँ। अरे, मैं ही क्यों, सारा शहर यही कहता है। अंबिका बाबू वकील मुझे बधाई देते हुए बोले, 'इंटरव्यू में बुलाए जाने का मतलब यह है कि अगर इंटरव्यू थोड़ा भी अच्छा हो गया, तो चुनाव निश्चित है।' मेरी नाक में दम था, जो भी सुनता, बधाई देने चला आता।"

"मुहल्ले के लड़के मुझे भी आकर बधाई दे गए हैं। जानकी, कमल और गौरी तो अभी-अभी गए हैं। जमुना ने स्वप्निल आँखों से अपने पति को देखते हुए सूचना दी।"

"तो तुम्हारी कोई मामूली हस्ती है! अरे, तुम डिप्टी-कलक्टर की माँ हो न, जी!" इतना कहकर शकलदीप बाबू ठहाका मारकर हँस पड़े।

जमुना कुछ नहीं बोली, बल्कि उसने मुस्की काटकर साड़ी का पल्ला सिर के आगे थोड़ा और खींचकर मुँह टेढ़ा कर लिया।

शकलदीप बाबू ने जूते निकालकर चारपाई पर बैठते हुए धीरे-से कहा, "अरे भाई, हमको-तुमको क्या लेना है, एक कोने में पड़कर रामनाम जपा करेंगे। लेकिन मैं तो अभी यह सोच रहा हूँ कि कुछ साल तक और मुख्तारी करूँगा। नहीं, यही ठीक रहेगा।" उन्होंने गाल फुलाकर एक-दो बार मूँछ पर ताव दिए।

जमुना ने इसका प्रतिवाद किया, "लड़का मानेगा थोड़े, खींच ले जाएगा। हमेशा यह देखकर उसकी छाती फटती रहती है कि बाबू जी इतनी मेहनत करते हैं और वह कुछ भी मदद नहीं करता।"

"कुछ कह रहा था क्या?" शकलदीप बाबू ने धीरे-से पूछा और पत्नी की ओर न देखकर दरवाजे के बाहर मुँह बनाकर देखने लगे।

जमुना ने आश्वासन दिया, "मैं जानती नहीं क्या? उसका चेहरा बताता है। बाप को इतना काम करते देखकर उसको कुछ अच्छा थोड़े लगता है!" अंत में उसने नाक सुड़क लिए।

नारायण पंद्रह दिन बाद इंटरव्यू देने गया। और उसने इंटरव्यू भी काफी



अच्छा किया। वह घर वापस आया, तो उसके हृदय में अत्यधिक उत्साह था, और जब उसने यह बताया कि जहाँ और लड़कों का पंद्रह-बीस मिनट तक ही इंटरव्यू हुआ, उसका पूरे पचास मिनट तक इंटरव्यू होता रहा और उसने सभी प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर दिए, तो अब यह सभी ने मान लिया कि नारायण का लिया जाना निश्चित है।

दूसरे दिन कचहरी में फिर वकीलों और मुख्तारों ने शकलदीप बाबू को बधाइयाँ दीं और विश्वास प्रकट किया कि नारायण अवश्य चुन लिया जाएगा। शकलदीप बाबू मुस्कराकर धन्यवाद देते और लगे हाथों नारायण के व्यक्तिगत जीवन की एक-दो बातें भी सुना देते और अंत में सिर को आगे बढ़ाकर फुसफुसाहट में दिल का राज प्रकट करते, "आपसे कहता हूँ, पहले मेरे मन में शंका थी, शंका क्या सोलहों आने शंका थी, लेकिन आप लोगों की दुआ से अब वह दूर हो गई है।"

जब वह घर लौटे, तो नारायण, गौरी और कमल दरवाजे के सामने खड़े बातें कर रहे थे। नारायण इंटरव्यू के संबंध में ही कुछ बता रहा था। वह अपने पिता जी को आता देखकर धीरे-धीरे बोलने लगा। शकलदीप बाबू चुपचाप वहाँ से गुजर गए, लेकिन दो-तीन गज ही आगे गए होंगे कि गौरी कि आवाज उनको सुनाई पड़ी, "अरे तुम्हारा हो गया, अब तुम मौज करो!"

इतना सुनते की शकलदीप बाबू घूम पड़े और लड़कों के पास आकर उन्होंने पूछा, "क्या?" उनकी आँखें संकुचित हो गई थीं और उनकी मुद्रा ऐसी हो गई थी, जैसे किसी महफिल में जबरदस्ती घुस आए हों।

लड़के एक-दूसरे को देखकर शिष्टतापूर्वक होंठों में मुस्कराए। फिर गौरी ने अपने कथन को स्पष्ट किया, "मैं कह रहा था नारायण से, बाबू जी, कि उनका चुना जाना निश्चित है।"

शकलदीप बाबू ने सड़क से गुजरती हुई एक मोटर को गौर से देखने के

बाद धीरे-धीरे कहा, “हाँ, देखिए न, जहाँ एक-से-एक धुरंधर लड़के पहुँचते हैं, सबसे तो बीस मिनट ही इंटरव्यू होता है, पर इनसे पूरे पचास मिनट! अगर नहीं लेना होता, तो पचास मिनट तक तंग करने की क्या जरूरत थी, पाँच-दस मिनट पूछताछ करके....”

गौरी ने सिर हिलाकर उनके कथन का समर्थन किया और कमल ने कहा, “पहले का जमाना होता, तो कहा भी नहीं जा सकता, लेकिन अब तो बेईमानी-बेईमानी उतनी नहीं होती होगी।”

शकलदीप बाबू ने आँखें संकुचित करके हल्की-फुल्की आवाज में पूछा, “बेईमानी नहीं होती न?”

“हाँ, अब उतनी नहीं होती। पहले बात दूसरी थी। वह जमाना अब लद गया।” गौरी ने उत्तर दिया।

शकलदीप बाबू अचानक अपनी आवाज पर जोर देते हुए बोले, “अरे, अब कैसी बेईमानी साहब, गोली मारिए, अगर बेईमानी ही करनी होती, तो इतनी देर तक इनका इंटरव्यू होता? इंटरव्यू में बुलाया ही न होता और बुलाते भी तो चार-पाँच मिनट पूछताछ करके विदा कर देते।”

इसका किसी ने उत्तर नहीं दिया, तो वह मुस्कराते हुए घूमकर घर में चले गए।

घर में पहुँचने पर जमुना से बोले, “बबुआ अभी से ही किसी अफसर की तरह लगते हैं। दरवाजे पर बबुआ, गौरी और कमल बातें कर रहे हैं। मैंने दूर ही से गौर किया, जब नारायण बाबू बोलते हैं, तो उनके बोलने और हाथ हिलाने से एक अजीब ही शान टपकती है। उनके दोस्तों में ऐसी बात कहाँ?”

“आज दोपहर में मुझे कह रहे थे कि तुझे मोटर में घुमाऊँगा।” जमुना ने खुशखबरी सुनाई।

शकलदीप बाबू खुश होकर नाक सुड़कते हुए बोले, “अरे, तो उसको मोटर



की कमी होगी, घूमना न जितना चाहना।” वह सहसा चुप हो गए और खोए-खोए इस तरह मुस्कराने लगे, जैसे कोई स्वादिष्ट चीज खाने के बाद मन-ही-मन उसका मजा ले रहे हों।

कुछ देर बाद उन्होंने पत्नी से प्रश्न किया, “क्या कह रहा था, मोटर में घुमाऊँगा?”

जमुना ने फिर वही बात दोहरा दी।

शकलदीप बाबू ने धीरे-से दोनों हाथों से ताली बजाते हुए मुस्कराकर कहा, “चलो, अच्छा है।” उनके मुख पर अपूर्व स्वप्निल संतोष का भाव अंकित था।

सात-आठ दिनों में नतीजा निकलने का अनुमान था। सभी को विश्वास हो गया था कि नारायण ले लिया जाएगा और सभी नतीजे की बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे थे।

अब शकलदीप बाबू और भी व्यस्त रहने लगे। पूजा-पाठ का उनका कार्यक्रम पूर्ववत जारी था। लोगों से बातचीत करने में उनको काफी मजा आने लगा और वह बातचीत के दौरान ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते कि लोगों को कहना पड़ता कि नारायण अवश्य ही ले लिया जाएगा। वह अपने घर पर एकत्रित नारायण तथा उसके मित्रों की बातें छिपकर सुनते और कभी-कभी अचानक उनके दल में घुस जाते तथा जबरदस्ती बात करने लगते। कभी-कभी नारायण को अपने पिता की यह हरकत बहुत बुरी लगती और वह क्रोध में दूसरी ओर देखने लगता। रात में शकलदीप बाबू चौंककर उठ बैठते और बाहर आकर कमरे में लड़के को सोते हुए देखने लगते या आँगन में खड़े होकर आकाश को निहारने लगते।

एक दिन उन्होंने सबेरे ही सबको सुनाकर जोर से कहा, “नारायण की माँ, मैंने आज सपना देखा है कि नारायण बाबू डिप्टी-कलक्टर हो गए।”

जमुना रसोई के बरामदे में बैठी चावल फटक रही थी और उसी के पास नारायण की पत्नी, निर्मला, घूँघट काढ़े दाल बीन रही थी।

जमुना ने सिर उठाकर अपने पति की ओर देखते हुए प्रश्न किया, "सपना सबेरे दिखाई पड़ा था क्या?"

"सबेरे के नहीं तो शाम के सपने के बारे में तुमसे कहने आऊँगा? अरे, एकदम ब्राह्ममुहूर्त में देखा था! देखता हूँ कि अखबार में नतीजा निकल गया है और उसमें नारायण बाबू का भी नाम हैं अब यह याद नहीं कि कौन नंबर था, पर इतना कह सकता हूँ कि नाम काफी ऊपर था।"

"अम्मा जी, सबेरे का सपना तो एकदम सच्चा होता है न!" निर्मला ने धीरे-से जमुना से कहा।

मालूम पड़ता है कि निर्मला की आवाज शकलदीप बाबू ने सुन ली, क्योंकि उन्होंने बिहँसकर प्रश्न किया, "कौन बोल रहा है, डिप्टाइन हैं क्या?" अंत में वह ठहाका मारकर हँस पड़े।

"हाँ, कह रही हैं कि सबेरे का सपना सच्चा होता है। सच्चा होता ही है।" जमुना ने मुस्कराकर बताया।

निर्मला शर्म से संकुचित हो गई। उसने अपने बदन को सिकोड़ तथा पीठ को नीचे झुकाकर अपने मुँह को अपने दोनों घुटनों के बीच छिपा लिया।

अगले दिन भी सबेरे शकलदीप बाबू ने घरवालों को सूचना दी कि उन्होंने आज भी हू-ब-हू वैसा ही सपना देखा है।

जमुना ने अपनी नाक की ओर देखते हुए कहा, "सबेरे का सपना तो हमेशा ही सच्चा होता है। जब बहू को लड़का होनेवाला था, मैंने सबेरे-सबेरे सपना देखा कि कोई सरग की देवी हाथ में बालक लिए आसमान से आँगन में उतर रही है। बस, मैंने समझ लिया कि लड़का ही है। लड़का ही निकला।"

शकलदीप बाबू ने जोश में आकर कहा, "और मान लो कि झूठ है, तो यह सपना एक दिन दिखाई पड़ता, दूसरे दिन भी हू-ब-हू वहीं सपना क्यों दिखाई देता, फिर वह भी ब्राह्ममुहूर्त में ही!"



"बहू ने भी ऐसा ही सपना आज सबेरे देखा है!"

"डिप्टाइन ने भी?" शकलदीप बाबू ने मुस्की काटते हुए कहा।

"हाँ, डिप्टाइन ने ही। ठीक सबेरे उन्होंने देखा कि एक बँगले में हम लोग रह रहे हैं और हमारे दरवाजे पर मोटर खड़ी है।" जमुना ने उत्तर दिया।

शकलदीप बाबू खोए-खोए मुस्कराते रहे। फिर बोले, "अच्छी बात है, अच्छी बात है।"

एक दिन रात को लगभग एक बजे शकलदीप बाबू ने उठकर पत्नी को जगाया और उसको अलग ले जाते हुए बेशर्म महाब्राह्मण की भाँति हँसते हुए प्रश्न किया, "कहो भाई, कुछ खाने को होगा? बहुत देर से नींद ही नहीं लग रही है, पेट कुछ माँग रहा है। पहले मैंने सोचा, जाने भी दो, यह कोई खाने का समय है, पर इससे काम बनते न दिखा, तो तुमको जगाया। शाम को खाया था, सब पच गया।"

जमुना अचंभे के साथ आँखें फाड़-फाड़कर अपने पति को देख रही थी। दांपत्य-जीवन के इतने दीर्घकाल में कभी भी, यहाँ तक कि शादी के प्रारंभिक दिनों में भी, शकलदीप बाबू ने रात में उसको जगाकर कुछ खाने को नहीं माँगा था। वह झुँझला पड़ी और उसने असंतोष व्यक्त किया, "ऐसा पेट तो कभी भी नहीं था। मालूम नहीं, इस समय रसोई में कुछ है या नहीं।"

शकलदीप बाबू झेंपकर मुस्कराने लगे।

एक-दो क्षण बाद जमुना ने आँखे मलकर पूछा, "बबुआ के मेवे में से थोड़ा दूँ क्या?"

शकलदीप बाबू झट-से बोले, "अरे, राम-राम! मेवा तो, तुम जानती हो, मुझे बिलकुल पसंद नहीं। जाओ, तुम सोओ, भूख-वूख थोड़े है, मजाक किया था।"

यह कहकर वह धीरे-से अपने कमरे में चले गए। लेकिन वह लेटे ही थे

कि जमुना कमरे में एक छिपुली में एक रोटी और गुड़ लेकर आई। शकलदीप बाबू हँसते हुए उठ बैठे।

शकलदीप बाबू पूजा-पाठ करते, कचहरी जाते, दुनिया-भर के लोगों से दुनिया-भर की बातचीत करते, इधर-उधर मटरगश्ती करते और जब खाली रहते, तो कुछ-न-कुछ खाने को माँग बैठते। वह चटोर हो गए और उनके जब देखो, भूख लग जाती। इस तरह कभी रोटी-गुड़ खा लेते, कभी आलू भुनवाकर चख लेते और कभी हाथ पर चीनी लेकर फाँक जाते। भोजन में भी वह परिवर्तन चाहने लगे। कभी खिचड़ी की फरमाइश कर देते, कभी सत्तू-प्याज की, कभी सिर्फ रोटी-दाल की, कभी मकुनी की और कभी सिर्फ दाल-भात की ही। उसका समय कटता ही न था और वह समय काटना चाहते थे।

इस बदपरहेजी तथा मानसिक तनाव का नतीजा यह निकला कि वह बीमार पड़ गए। उनको बुखार तथा दस्त आने लगे।

उनकी बीमारी से घर के लोगों को बड़ी चिंता हुई। जमुना ने रुआँसी आवाज में कहा, "बार-बार कहती थी कि इतनी मेहनत न कीजिए, पर सुनता ही कौन है? अब भोगना पड़ा न!"

पर शकलदीप बाबू पर इसका कोई असर न हुआ। उन्होंने बात उड़ा दी "अरे, मैं तो कचहरी जानेवाला था, पर यह सोचकर रुक गया कि अब मुख्तारी तो छोड़नी ही है, थोड़ा आराम कर लें।"

"मुख्तारी जब छोड़नी होगी, होगी, इस समय तो दोनों जून की रोटी-दाल का इंतजाम करना है।" जमुना ने चिंता प्रकट की।

"अरे, तुम कैसी बात करती हो? बीमारी-हैरानी तो सबको होती है, मैं मिट्टी का ढेला तो हूँ नहीं कि गल जाऊँगा। बस, एक-आध दिन की बात हैं अगर बीमारी सख्त होती, तो मैं इस तरह टनक-टनककर बोलता?" शकलदीप बाबू ने समझाया और अंत में उनके होंठों पर एक क्षीण मुस्कराहट खेल गई।



वह दिन-भर बेचैन रहे। कभी लेटते, कभी उठ बैठते और कभी बाहर निकलकर टहलने लगते। लेकिन दुर्बल इतने हो गए थे कि पाँच-दस कदम चलते ही थक जाते और फिर कमरे में आकर लेटे रहते।

करते-करते शाम हुई और जब शकलदीप बाबू को यह बताया गया कि कैलाशबिहारी मुख्तार उनका समाचार लेने आए हैं, तो वह उठ बैठे और झटपट चादर ओढ़, हाथ में छड़ी ले पत्नी के लाख मना करने पर भी बाहर निकल आए। दस्त तो बंद हो गया था, पर बुखार अभी था और इतने ही समय में वह चिड़चिड़े हो गए थे।

कैलाशबिहारी ने उनको देखते ही चिंतातुर स्वर में कहा, "अरे, तुम कहाँ बाहर आ गए, मुझे ही भीतर बुला लेते।"

शकलदीप बाबू चारपाई पर बैठ गए और क्षीण हँसी हँसते हुए बोले, "अरे, मुझे कुछ हुआ थोड़े हैं सोचा, आराम करने की ही आदत डालूँ।" यह कहकर वह अर्थपूर्ण दृष्टि से अपने मित्र को देखकर मुस्कराने लगे।

सब हाल-चाल पूछने के बाद कैलाशबिहारी ने प्रश्न किया, "नारायण बाबू कहीं दिखाई नहीं दे रहे, कहीं घूमने गए हैं क्या?"

शकलदीप बाबू ने बनावटी उदासीनता प्रकट करते हुए कहा, "हाँ, गए होंगे कहीं, लड़के उनको छोड़ते भी तो नहीं, कोई-न-कोई आकर लिवा जाता है।"

कैलाशबिहारी ने सराहना की, "खूब हुआ, साहब! मैं भी जब इस लड़के को देखता था, दिल में सोचता था कि यह आगे चलकर कुछ-न-कुछ जरूर होगा। वह तो, साहब, देखने से ही पता लग जाता है। चाल में और बोलने-चालने के तरीके में कुछ ऐसा है कि... चलिए, हम सब इस माने में बहुत भाग्यशाली हैं।"

शकलदीप बाबू इधर-उधर देखने के बाद सिर को आगे बढ़ाकर सलाह-मशविरे की आवाज में बोले, "अरे भाई साहब, कहाँ तक बताऊँ अपने मुँह से क्या

कहना, पर ऐसा सीधा-सादा लड़का तो मैंने देखा नहीं, पढ़ने-लिखने का तो इतना शौक कि चौबीसों घंटे पढ़ता रहे। मुँह खोलकर किसी से कोई भी चीज माँगता नहीं।"

कैलाशबिहारी ने भी अपने लड़के की तारीफ में कुछ बातें पेश कर दीं, "लड़के तो मेरे भी सीधे हैं, पर मझला लड़का शिवनाथ जितना गऊ है, उतना कोई नहीं। ठीक नारायण बाबू ही की तरह है!"

"नारायण तो उस जमाने का कोई ऋषि-मुनि मालूम पड़ता है," शकलदीप बाबू ने गंभीरतापूर्वक कहा, "बस, उसकी एक ही आदत है। मैं उसकी माँ को मेवा दे देता हूँ और नारायण रात में अपनी माँ को जगाकर खाता है। भली-बुरी उसकी बस एक यही आदत है। अरे भैया, तुमसे बताता हूँ, लड़कपन में हमने इसका नाम पन्नालाल रखा था, पर एक दिन एक महात्मा घूमते हुए हमारे घर आए। उन्होंने नारायण का हाथ देखा और बोले, इसका नाम पन्नालाल-सन्नालाल रखने की जरूरत नहीं, बस आज से इसे नारायण कहा करो, इसके कर्म में राजा होना लिखा है। पहले जमाने की बात दूसरी थी, लेकिन आजकल राजा का अर्थ क्या है? डिप्टी-कलक्टर तो एक अर्थ में राजा ही हुआ!" अंत में आँखें मटकाकर उन्होंने मुस्कराने की कोशिश की, पर हाँफने लगे।

दोनों मित्र बहुत देर तक बातचीत करते रहे, और अधिकांश समय वे अपने-अपने लड़कों का गुणगान करते रहे।

घर के लोगों को शकलदीप बाबू की बीमारी की चिंता थी। बुखार के साथ दस्त भी था, इसलिए वह बहुत कमजोर हो गए थे, लेकिन वह बात को यह कहकर उड़ा देते, "अरे, कुछ नहीं, एक-दो दिन में मैं अच्छा हो जाऊँगा।" और एक वैद्य की कोई मामूली, सस्ती दवा खाकर दो दिन बाद वह अच्छे भी हो गए, लेकिन उनकी दुर्बलता पूर्ववत थी।

जिस दिन डिप्टी-कलक्टरी का नतीजा निकला, रविवार का दिन था। शकलदीप बाबू सबेरे रामायण का पाठ तथा नाश्ता करने के बाद मंदिर चले



गए। छुट्टी के दिनों में वह मंदिर पहले ही चले जाते और वहाँ दो-तीन घंटे, और कभी-कभी तो चार-चार घंटे रह जाते। वह आठ बजे मंदिर पहुँच गए। जिस गाड़ी से नतीजा आनेवाला था, वह दस बजे आती थी।

शकलदीप बाबू पहले तो बहुत देर तक मंदिर की सीढ़ी पर बैठकर सुस्ताते रहे, वहाँ से उठकर ऊपर आए, तो नंदलाल पांडे ने, जो चंदन रगड़ रहा था, नारायण के परीक्षाफल के संबंध में पूछताछ की। शकलदीप वहाँ पर खड़े होकर असाधारण विस्तार के साथ सबकुछ बताने लगे। वहाँ से जब उनको छुट्टी मिली, तो धूप काफी चढ़ गई थी। उन्होंने भीतर जाकर भगवान शिव के पिंड के समक्ष अपना माथा टेक दिया। काफी देर तक वह उसी तरह पड़े रहे। फिर उठकर उन्होंने चारों ओर घूम-घूमकर मंदिर के घंटे बजाकर मंत्रोच्चारण किए और गाल बजाए। अंत में भगवान के समक्ष पुनः दंडवत कर बाहर निकले ही थे कि जंगबहादूर सिंह मास्टर ने शिवदर्शनार्थ मंदिर में प्रवेश किया और उन्होंने शकलदीप बाबू को देखकर आश्चर्य प्रकट किया, "अरे, मुख्तार साहब! घर नहीं गए? डिप्टी-कलक्टरी का नतीजा तो निकल आया।"

शकलदीप बाबू का हृदय धक-से कर गया। उनके होंठ काँपने लगे और उन्होंने कठिनता से मुस्कराकर पूछा, "अच्छा, कब आया?"

जंगबहादूर सिंह ने बताया, "अरे, दस बजे की गाड़ी से आया। नारायण बाबू का नाम तो अवश्य है, लेकिन....." वह कुछ आगे न बोल सके।

शकलदीप बाबू का हृदय जोरों से धक-धक कर रहा था। उन्होंने अपने सूखे होंठों को जीभ से तर करते हुए अत्यंत ही धीमी आवाज में पूछा, "क्या कोई खास बात है?"

"कोई खास बात नहीं है। अरे, उनका नाम तो है ही, यह है कि ज़रा नीचे है। दस लड़के लिए जाएँगे, लेकिन मेरा ख्याल है कि उनका नाम सोलहवाँ-सत्रहवाँ पड़ेगा। लेकिन कोई चिंता की बात नहीं, कुछ लड़के को कलक्टरी में चले जाते

हैं कुछ मेडिकल में ही नहीं आते, और इस तरह पूरी-पूरी उम्मीद है कि नारायण बाबू ले ही लिए जाएँगे।”

शकलदीप बाबू का चेहरा फक पड़ गया। उनके पैरों में जोर नहीं था और मालूम पड़ता था कि वह गिर जाएँगे। जंगबहादुर सिंह तो मंदिर में चले गए। लेकिन वह कुछ देर तक वहीं सिर झुकाकर इस तरह खड़े रहे, जैसे कोई भूली बात याद कर रहे हों। फिर वह चौंक पड़े और अचानक उन्होंने तेजी से चलना शुरू कर दिया। उनके मुँह से धीमे स्वर में तेजी से शिव-शिव निकल रहा था। आठ-दस गज आगे बढ़ने पर उन्होंने चाल और तेज कर दी, पर शीघ्र ही बेहद थक गए और एक नीम के पेड़ के नीचे खड़े होकर हाँफने लगे।

चार-पाँच मिनट सुस्ताने के बाद उन्होंने फिर चलना शुरू कर दिया। वह छड़ी को उठाते-गिराते, छाती पर सिर गाड़े तथा शिव-शिव का जाप करते, हवा के हल्के झोंके से धीरे-धीरे टेढ़े-तिरछे उड़नेवाले सूखे पत्ते की भाँति डगमग-डगमग चले जा रहे थे। कुछ लोगों ने उनको नमस्ते किया, तो उन्होंने देखा नहीं, और कुछ लोगों ने उनको देखकर मुस्कराकर आपस में आलोचना-प्रत्यालोचना शुरू कर दी, तब भी उन्होंने कुछ नहीं देखा। लोगों ने संतोष से, सहानुभूति से तथा अफसोस से देखा, पर उन्होंने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उनको बस एक ही धुन थी कि वह किसी तरह घर पहुँच जाएँ।

घर पहुँचकर वह अपने कमरे में चारपाई पर धम-से बैठ गए। उनके मुँह से केवल इतना ही निकला, “नारायण की अम्माँ!”

सारे घर में मुर्दनी छाई हुई थी। छोटे-से आँगन में गंदा पानी, मिट्टी, बाहर से उड़कर आए हुए सूखे पत्ते तथा गंदे कागज पड़े थे, और नाबदान से दुर्गंध आ रही थी। ओसारे में पड़ी पुरानी बँसखट पर बहुत-से गंदे कपड़े पड़े थे और रसोईघर से उस वक्त भी धुआँ उठ-उठकर सारे घर की साँस को घोट रहा था। कहीं कोई खटर-पटर नहीं हो रही थी और मालूम होता था कि घर में कोई है ही नहीं।



शीघ्र ही जमुना न मालूम किधर से निकलकर कमरे में आई और पति को देखते ही उसने घबराकर पूछा, “तबीयत तो ठीक है?”

शकलदीप बाबू ने झुँझलाकर उत्तर दिया, “मुझे क्या हुआ है, जी? पहले यह बताओ, नारायण जी कहाँ हैं?”

जमुना ने बाहर के कमरे की ओर संकेत करते हुए बताया, “उसी में पड़े है।, न कुछ बोलते हैं और न कुछ सुनते हैं। मैं पास गई, तो गुमसुम बने रहे। मैं तो डर गई हूँ।”

शकलदीप बाबू ने मुस्कराते हुए आश्वासन दिया, “अरे कुछ नहीं, सब कल्याण होगा, चिंता की कोई बात नहीं। पहले यह तो बताओ, बबुआ को तुमने कभी यह तो नहीं बताया था कि उनकी फीस तथा खाने-पीने के लिए मैंने 600 रुपए कर्ज लिए हैं। मैंने तुमको मना कर दिया था कि ऐसा किसी भी सूरत में न करना।”

जमुना ने कहा, “मैं ऐसी बेवकूफ थोड़े हूँ। लड़के ने एक-दो बार खोद-खोदकर पूछा था कि इतने रुपए कहाँ से आते हैं? एक बार तो उसने यहाँ तक कहा था कि यह फल-मेवा और दूध बंद कर दो, बाबू जी बेकार में इतनी फिजूलखर्ची कर रहे हैं। पर मैंने कह दिया कि तुमको फिक्र करने की जरूरत नहीं, तुम बिना किसी चिंता के मेहनत करो, बाबू जी को इधर बहुत मुकदमे मिल रहे हैं।”

शकलदीप बाबू बच्चे की तरह खुश होते हुए बोले, “बहुत अच्छा। कोई चिंता की बात नहीं। भगवान सब कल्याण करेंगे। बबुआ कमरे ही में हैं न?”

जमुना ने स्वीकृति से सिर लिया दिया।

शकलदीप बाबू मुस्कराते हुए उठे। उनका चेहरा पतला पड़ गया था, आँखे धँस गई थीं और मुख पर मूँछें झाड़ू की भाँति फरक रही थीं। वह जमुना से यह कहकर कि ‘तुम अपना काम देखो, मैं अभी आया’, कदम को दबाते हुए बाहर

के कमरे की ओर बढ़े। उनके पैर काँप रहे थे और उनका सारा शरीर काँप रहा था, उनकी साँस गले में अटक-अटक जा रही थी।

उन्होंने पहले ओसारे ही में से सिर बढ़ाकर कमरे में झाँका। बाहरवाला दरवाजा और खिड़कियाँ बंद थीं, परिणामस्वरूप कमरे में अँधेरा था। पहले तो कुछ न दिखाई पड़ा और उनका हृदय धक-धक करने लगा। लेकिन उन्होंने थोड़ा और आगे बढ़कर गौर से देखा, तो चारपाई पर कोई व्यक्ति छाती पर दोनों हाथ बाँधे चित्त पढ़ा था। वह नारायण ही था।

वह धीरे-से चोर की भाँति पैरों को दबाकर कमरे के अंदर दाखिल हुए। उनके चेहरे पर अस्वाभाविक विश्वास की मुस्कराहट थिरक रही थी। वह मेज के पास पहुँचकर चुपचाप खड़े हो गए और अँधेरे ही में किताब उलटने-पुलटने लगे। लगभग डेढ़-दो मिनट तक वहीं उसी तरह खड़े रहने पर वह सराहनीय फुर्ती से घूमकर नीचे बैठक गए और खिसककर चारपाई के पास चले गए और चारपाई के नीचे झाँक-झाँककर देखने लगे, जैसे कोई चीज खोज रहे हों। तत्पश्चात पास में रखी नारायण की चप्पल को उठा लिया और एक-दो क्षण उसको उलटने-पुलटने के पश्चात उसको धीरे-से वहीं रख दिया। अंत में वह साँस रोककर धीरे-धीरे इस तरह उठने लगे, जैसे कोई चीज खोजने आए थे, लेकिन उसमें असफल होकर चुपचाप वापस लौट रहे हों। खड़े होते समय वह अपना सिर नारायण के मुख के निकट ले गए और उन्होंने नारायण को आँखें फाड़-फाड़कर गौर से देखा। उसकी आँखे बंद थीं और वह चुपचाप पड़ा हुआ था, लेकिन किसी प्रकार की आहट, किसी प्रकार का शब्द नहीं सुनाई दे रहा था। शकलदीप बाबू एकदम डर गए और उन्होंने कांपते हृदय से अपना बायाँ कान नारायण के मुख के बिलकुल नजदीक कर दिया। और उस समय उनकी खुशी का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने अपने लड़के की साँस को नियमित रूप से चलते पाया।

वह चुपचाप जिस तरह आए थे, उसी तरह बाहर निकल गए। पता नहीं कब से, जमुना दरवाजे पर खड़ी चिंता के साथ भीतर झाँक रही थी।



उसने पति का मुँह देखा और घबराकर पूछा, “क्या बात है? आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? मुझे बड़ा डर लग रहा है।”

शकलदीप बाबू ने इशारे से उसको बोलने से मना किया और फिर उसको संकेत से बुलाते हुए अपने कमरे में चले गए।

जमुना ने कमरे में पहुँचकर पति को चिंतित एवं उत्सुक दृष्टि से देखा।

शकलदीप बाबू ने गद्‌गद्‌ स्वर में कहा, “बबुआ सो रहे हैं।”

वह आगे कुछ न बोल सकें उनकी आँखें भर आई थीं। वह दूसरी ओर देखने लगे।

## अमरकांत

जन्म - सन् 1925, ग्राम नगरा, जिला बलिया (उत्तर प्रदेश) 1942 के स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़ने के कारण पढ़ाई बाधित। अंततः 1946 में बलिया से इंटर, 1947 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी.ए.। 1948 में आगरा के दैनिक पत्र ‘सैनिक’ के संपादकीय विभाग में काम। आगरा में ही प्रगतिशील लेखक संघ से संपर्क। वहीं से कहानी लिखना शुरू किया। अनेक पत्रिकाओं के संपादन से सम्बद्ध रहे। अभी इलाहाबाद में रह रहे हैं। स्वातंत्रयोत्तर काल में हिन्दी-कहानी को नया मोड़ देने वाले समर्थ एवं प्रतिनिधि कथाकारों में एक।

प्रकाशित कहानी संग्रह - जिन्दगी और जोंक, देश के लोग, मौत का नगर, मित्र-मिलन, कुहासा।

प्रकाशित उपन्यास- सूखा पत्ता, आकाश पक्षी, काले उजले दिन, सुखजीवी, बीच की दीवार, ग्राम सेविका। बाल उपन्यास - वानर सेना।

# गर्मियों के दिन

**कमलेश्वर**

चुंगी-दफ्तर खूब रंगा-चुंगा है। उसके फाटक पर इन्द्रधनुषी आकार के बोर्ड लगे हुए हैं। सैयदअली पेण्टर ने बड़े सधे हाथ से उन बोर्डों को बनाया है। देखते-देखते शहर में बहुत-सी दुकानें हो गई हैं, जिन पर साइनबोर्ड लटक गए हैं। साइनबोर्ड लगाना यानि औकात का बढ़ाना। बहुत दिन पहले जब दीनानाथ हलवाई की दुकान पर पहला साइनबोर्ड लगा था, तो वहां दूध पीनेवालों की संख्या एकाएक बढ़ गई थी। फिर बाढ़ आ गई, और नये-नये तरीके और बेलबूटे ईजाद किए गए। 'ऊं' या 'जयहिन्द' से शुरू करके 'एक बार अवश्य परीक्षा कीजिए' या 'मिलावट साबित करने वाले को सौ रुपए नकद इनाम' की मनुहारों या ललकारों पर लिखावट समाप्त होने लगी।

चुंगी-दफ्तर का नाम तीन भाषाओं में लिखा है। चेयरमैन साहब बड़े अक्किल के आदमी है।, उनकी सूझ-बूझ का डंका बजता है, इसलिए हर साइनबोर्ड हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी में लिखा जाता है। दूर-दूर के नेता लोग भाषण देने आते हैं, देश-विदेश के लोग आगरा का ताजमहल देखकर पूरब की ओर आते हुए यहां से गुज़रते है।.... उन पर असर पड़ता है भाई। और फिर मौसम की बात : मेले-तमाशे के दिनों में हलवाई, जुलाई-अगस्त में किताब-कागजवालों, सहालग में कपड़ेवालों और खराब मौसम में वैद्य-हकीमों के साइनबोर्डों पर नया रोगन चढ़ता हैं शुद्ध देशी घी वाले सबसे अच्छे, जो छप्परों



के भीतर दीवार पर गेरू या हिरमिजी से लिखकर काम चला देते हैं। इसके बगैर काम नहीं चलता। अहमियत बताते हुए वैद्य जी ने कहा, "बगैर पोस्टर चिपकाए सिनेमावालों का भी काम नहीं चलता। बड़े-बड़े शहरों में जाइए, मिट्टी का तेल बेचनेवाले की दुकान पर साइनबोट मिल जाएगा। बड़ी जरूरी चीज़ है। बाल-बच्चों के नाम पर साइनबोट हैं, नहीं तो नाम रखने की जरूरत क्या है? साइनबोट लगाके सुखदेव बाबू कम्पौण्डर से डॉक्टर हो गए, बैग लेके चलने लगे।"

पास बैठे रामचरन ने एक और नये चमत्कार की खबर दी, "कल उन्होंने बुधईवाला इक्का-घोड़ा खरीद लिया...."

"हांकेगा कौन?" टीन की कुर्सी पर प्राणायाम की मुद्रा में बैठे पंडित ने पूछा।

"ये सब जेब कतरने का तरीका है," वैद्यजी का ध्यान इक्के की तरफ अधिक था, "मरीज़ से किराया वसूल करेंगे। सईस को बख्शीश दिलाएंगे, बड़े शहरों के डॉक्टरों की तरह। इसी से पेशे की बदनामी होती है। पूछो, मरीज का इलाज करना है कि रोब-दाब दिखाना है। अंग्रेजी आले लगाकर मरीज की आधी जान पहले सुखा डालते हैं। आयुर्वेदी नब्ज़ देखना तो दूर, चेहरा देखके रोग बता दे। इक्का-घोड़ा इसमें क्या करेगा? थोड़े दिन बाद देखना, उनका सईस कम्पौण्डर हो जाएगा..." कहते-कहते वैद्यजी बड़ी घिसी हुई हंसी में हंस पड़े। फिर बोले, "कौन क्या कहे भाई! डॉक्टरी तो तमाशा बन गई है। वकील-मुख्तार के लड़के डॉक्टर होने लगे! खून और संस्कार से बात बनती है... हाथ में जस आता है। वैद्य का लड़का वैद्य होता है। आधी विद्या लड़कपन में जड़ी-बूटियां कूटते-पीसते आ जाती है। तोला, माशा, रत्ती का ऐसा अंदाज़ हो जाता है कि औषधि अशुद्ध हो ही नहीं सकती; औषधि का चमत्कार उसके बनाने की विधि में है...धन्वन्तरि..." वैद्यजी आगे कहने जा ही रहे थे कि एक आदमी को दुकान की ओर आते देख चुप हो गए और बैठे हुए

लोगों की ओर कुछ इस तरह देखने-सुनने लगे कि वे गप्प लड़ानेवाले फालतू आदमी न होकर उनके रोगी हों।

आदमी के दुकान पर चढ़ते ही वैद्यजी ने भांप लिया! कुंठित होकर उन्होंने उसे देखा और उदासीन हो गए। लेकिन दुनिया-दिखवा भी कुछ होता है! हो सकता है, कल यही आदमी  बीमार पड़ जाए या इसके घर में किसी को रोग घेर ले! इसलिए अपना व्यवहार और पेशे की गरिमा चौकस रहनी चाहिए! अपने को बटोरते हुए उन्होंने कहा, "कहो भाई, राजी-खुशी!" उस आदमी ने जवाब देते हुए सीरे की एक कनस्टरिया सामने कर दी, "यह ठाकुर साहब ने रखवाई है। मंडी से लौटते हुए लेते जाएंगे। एक-डेढ़ बजे के करीब।"

"उस वक्त दुकान बन्द रहेगी," वैद्यजी ने व्यर्थ के काम से ऊबते हुए कहा, "हकीमों-वैद्यों की दुकानें दिन-भर नहीं खुली रहतीं। व्यापारी थोड़े ही हैं भाई!" पर फिर किसी अन्य दिन और अवसर की आशा ने जैसे ज़बरदस्ती कहलवाया, "खैर," उन्हें दिक्कत नहीं होगी, हम नहीं होंगे तो बगलवाली दुकान से उठा लें। मैं रखता जाऊंगा।"

आदमी के जाते ही वैद्यजी बोले, "शराब-बन्दी से क्या होता है? जब से हुई तब से कच्ची शराब की भट्ठियां घर-घर चालू हो गईं। सीरा घी के भाव बिकने लगा। और इन डॉक्टरों को क्या कहिए....इनकी दुकानें हौली बन गई है। लैसन्स मिलता है दवा की तरह इस्तेमाल करने का, पर खुलेआम जिंजर बिकता है। कहीं कुछ नहीं होता। हम भंग-अफीम की एक पुड़िया चाहें तो तफसील देनी पड़ती है।"

"जिम्मेदारी की बात है," पंडितजी ने कहा।

"अब जिम्मेदार वैद्य ही रह गए हैं। सबकी रजिस्टरी हो चुकी, भाई! ऐरे-गैरे पचकल्यानी जितने घुस आए थे, उनकी सफाई हो गई। अब जिनके पास रजिस्टरी होगी वह वैद्यक कर सकता है। चूरनवाले वैद्य बन बैठे थे... सब खतम हो गए। लखनऊ में सरकारी जांच-पड़ताल के बाद सही मिली है...."



वैद्यजी की बात में रस न लेते हुए पंडित उठ गए। वैद्यजी ने भीतर की तरफ कदम बढ़ाए और औषधालय का बोर्ड लिखते हुए चन्दर से बोले, "सफेदा गाढ़ा है बाबू, तारपीन मिला लो।" और वे एक बोतल उठा लाए, जिस पर अशोकारिष्ट का लेबल था।

इसी तरह न जाने किन-किन औषधियों की शरीर-रूपी बोतलों में किस-किस पदार्थ की आत्मा भरी है। सामने की अकेली अलमारी में बड़ी-बड़ी बोतलें रखी हैं जिन पर तरह-तरह के अरिष्टों और आसवों के नाम चिपके हैं। सिर्फ पहली कतार में वे शीशियां खड़ी हैं..... उनके पीछे ज़रूरत का और सामान है। सामने की मेज पर सफेद शीशियों की एक पंक्ति है, जिसमें कुछ स्वादिष्ट चूरन...लवणभास्कर आदि हैं, बाकी में जो कुछ भरा है उसे केवल वैद्यजी जानते हैं।

तारपीन का तेल मिलाकर चन्दर आगे लिखने लगा - 'प्रो.कविराज नित्यानन्द तिवारी' ऊपर की पंक्ति 'श्री धन्वन्तरि औषधालय' स्वयं वैद्यजी लिख चुके थे। सफेदे के वे अच्छर ऐसे लग रहे थे जैसे रुई के फाहे चिपका दिए हों। ऊपर जगह खाली देखकर वैद्यजी बोले, "बाबू ऊपर जयहिन्द लिख देना.... और यह जो जगह बच रही है, इसमें एक ओर द्राक्षासव की बोतल, दूसरी ओर खरल की तसवीर.... आर्ट हमारे पास मिडिल तक था लेकिन यह तो हाथ सधने की बात है।"

चन्दर कुछ ऊब सा रहा था। खामख्वाह पकड़ा गया। लिखावट अच्छी होने का यह पुरस्कार उसकी समझ में नहीं आ रहा था। बोला, "किसी पेण्टर से बनवाते... अच्छा-खासा लिख देता, वो बात नहीं आएगी...." अपना पसीना पोंछते हुए उसने कूची नीचे रख दी।

"पांच रुपये मांगता था बाबू.... दो लाइनों के पांच रुपये! अब अपनी मेहनत के साथ यह साइनबोट दस-बारह आने का पड़ा, ये रंग एक मरीज़ दे

गया। बिजली कम्पनी का पेण्टर बदहज़मी से परेशान था। दो खुराकें बनाकर दे दीं, पैसे नहीं लिए। सो वह दो-तीन रंग और थोड़ी-सी वार्निश दे गया। दो बक्से रंग गए... यह बोट बन गया और एकाध कुर्सी रंग जाएगी....तुम बस इतना लिख दो, लाल रंग का शेड हम देते रहेंगे.... हाशिया तिरंगा खिलेगा?" वैद्यजी ने पूछा और स्वयं स्वीकृति भी दे दी।

चन्दर गर्मी से परेशान था। जैसे-जैसे दोपहरी नज़दीक आती जा रही थी, सड़क पर धूल और लू का ज़ोर बढ़ता जा रहा था, मुलाहिजे में चन्दर मना नहीं कर पाया। पंखे से अपनी पीठ खुजलाते हुए वैद्यजी ने उजरत के कामवाले पटवारियों के बड़े-बड़े रजिस्टर निकालकर फैलाने शुरू किए।

सूरज की तपिश से बचने के लिए दुकान का एक किवाड़ भेड़कर वैद्यजी खाली रजिस्टरों पर खसरा-खतौनियों से नकल करने लगे। चन्दर ने अपना पिंड छुड़ाने के लिए पूछा, "ये सब क्या है वैद्यजी?"

वैद्यजी का चेहरा उतर गया, बोले, "खाली बैठने से अच्छा है कुछ काम किया जाए, नये लेखपालों को काम-धाम आता नहीं, रोज़ कानूनगो या नायब साहब से झाड़ें पड़ती हैं...झक मार के उन लोगों को यह काम उजरत पर कराना पड़ता है। अब पुराने घाघ पटवारी कहां रहे जिनके पेट में गंवई कानून बसता था। रोटियां छिन गई बेचारों की; लेकिन सही पूछो तो अब भी सारा काम पुराने पटवारी ही ढो रहे हैं। नये लेखपालों की तनख्वाह का सारा रुपया इसी उजरत में निकल जाता है। पेट उनका भी है... तियां-पांचा करके किसानों से निकाल लाते हैं। लाएं न तो खाएं क्या? दो-तीन लेखपाल अपने हैं, उन्हीं से कभी-कभार हलका-भारी काम मिल जाता है। नकल का काम, रजिस्टर भरने हैं!"

बाहर सड़क वीरान होती जा रही थी। दफ्तर के बाबू लोग जा चुके थे। सामने चुंगी में खस की टट्टियों पर छिड़काव शुरू हो गया। दूर हर-हराते पीपल का शोर लू के साथ आ रहा था। तभी एक आदमी ने किवाड़ से भीतर झांका।



वैद्यजी की बात, शायद जो क्षण-दो-क्षण बाद दर्द से बोझिल हो जाती, होती गई। उनकी निगाह ने आदमी पहचाना और वे सतर्क हो गए। फौरन बोले, "एक बोट आगरा से बनवाया है, जब तक नहीं आता, इसी से काम चलेगा; फुर्सत कहां मिलती है, जो इस सबमें सर खपाएं...." और एकदम व्यस्त होते हुए उन्होंने उस आदमी से प्रश्न किया, "कहो भई, क्या बात है?"

"डाकदरी सरटीफिकेट चाहिए... कोसमा टेशन पर खलासी हैंगे साब।" रेलवे की नीली वर्दी पहने वह खलासी बोला।

उसकी ज़रूरत का पूरा अन्दाज़ करते हुए वैद्यजी बोले, "हां, किस तारीख से कब तक का चाहिए?"

"पन्द्रह दिन पहले आए थे साब, सात दिन को और चाहिए।"

कुछ हिसाब जोड़कर वैद्यजी बोले, "देखो भाई सर्टीफिकेट पक्का करके देंगे, सरकार का रजिस्टर नम्बर देंगे, रुपैया चार लगेंगे।" वैद्यजी ने जैसे खुद चार रुपये पर उसके भड़क जाने का अहसास करते हुए कहा, "अगर पिछला न लो तो दो रुपये में काम चल जाएगा...."

खलासी निराश हो गया। लेकिन उसकी निराशा से अधिक गहन हताशा वैद्यजी के पसीने से नम मुख पर व्याप गई। बड़े निरपेक्ष भाव से खलासी बोला, "सोबरन सिंह ने आपके पास भेजा था।" उसके कहने से कुछ ऐसा लगा जैसे यह उसका काम न होकर सोबरन सिंह का काम हो। पर वैद्यजी के हाथ नब्ज आ गई, बोले, "वो हम पहले ही समझ गये थे। बगैर जान-पहचान के हम देते भी नहीं, इज़्ज़त का सवाल है। हमें क्या मालूम तुम कहां रहे, क्या करते हो? अब सोचने की बात है.... विश्वास पर जोखिम उठा लेंगे..... पन्द्रह दिन पहले से तुम्हारा नाम रजिस्टर में चढ़ाएंगे, रोग लिखेंगे... हर तारीख पर नाम चढ़ाएंगे, तब कहीं काम बनेगा! ऐसे घर की खेती नहीं है...." कहते-कहते उन्होंने चन्दर की ओर मदद के लिए ताका। चन्दर ने साथ दिया, "अब इन्हें क्या पता कि तुम बीमार रहे कि डाका डालते रहे...सरकारी मामला है..."

"पांच से कम में दुनिया-छोर का डॉक्टर नहीं दे सकता...." कहते-कहते वैद्यजी ने सामने रखा लेखपाल वाला रजिस्टर खिसकाते हुए जोश में कहा, "अरे, दम मारने की फर्सत नहीं है। ये देखा, देखते हो नाम...! मरीज़ों को छोड़कर सरकार को दिखाने के लिए यह तफसीलवार रजिस्टर बनाने पड़ते हैं। एक-एक रोगी का नाम, मर्ज, आमदनी... इन्हीं में तुम्हारा नाम चढ़ाना पड़ेगा! अब बताओ कि मरीजों को देखना ज़्यादा ज़रूरी है कि दो-चार रुपये के लिए सर्टीफिकेट देकर इस सरकारी पचड़े में फंसना।" कहते हुए उन्होंने तफसीलवाला रजिस्टर एकदम बन्द करके सामने से हटा दिया और केवल उपकार कर सकने के लिए तैयार होने जैसी मुद्रा बनाकर कलम से कान कुरेदने लगे।

रेलवे का खलासी एक मिनट तक बैठा कुछ सोचता रहा और वैद्यजी को सर झुकाए अपने काम में मशगुल देख, दुकान से नीचे उतर गया। एकदम वैद्यजी ने अपनी गलती महसूस की, लगा कि उन्होंने बात गलत जगह तोड़ दी और ऐसी तोड़ी की टूट गई। और कुछ एकाएक समझ में न आया तो उसे पुकारकर बोले, "अरे सुनो, ठाकुर सोबरन सिंह से हमारी जैरामजी की कह देना...उनके बाल-बच्चे तो राजी-खुशी हैं?"

"सब ठीक-ठाक है।" रुककर खलासी ने कहा।

उसे सुनाते हुए वैद्यजी चन्दर से बोले, "दस गांव-शहर छोड़के ठाकुर सोबरन सिंह इलाज के लिए यहीं आते हैं। भई, उनके लिए हम भी हमेशा हाज़िर रहे..."

चन्दर ने बोर्ड पर आखिरी अक्षर समाप्त करते हुए पूछा, "चला गया?"

"लौट-फिरके आएगा...." वैद्यजी ने जैसे अपने को समझाया, पर उसके वापस आने की अनिवार्यता पर विश्वास करते हुए बोले, 'गंवई-गांव के वैद्य और वकील एक ही होते हैं। सोबरन सिंह ने अगर हमारा नाम उसे बताया है तो ज़रूर वापस आएगा...गांववालों की मुर्री ज़रा मुश्किल से खुलती है। कहीं बैठ के सोचे-समझेगा, तब आएगा..."



"और कहीं से ले लिया तो?" चन्दर ने कहा तो वैद्यजी ने बात दी, "नहीं, नहीं बाबू।" कहते हुए उन्होंने बोर्ड की ओर देखा और प्रशंसा से भरकर बोले, वाह भाई चन्दर बाबू! साइनबोट जंच गया.... काम चलेगा। ये पांच रुपए पेण्टर को देकर मरीजों से वसूल करना पड़ता। इक्का, घोड़ा और ये खर्चा! बात एक है। चाहे नाक सामने से पकड़ लो, चाहे घुमाकर। सैयदअली के हाथ का लिखा बोट रोगियों को चंगा तो कर नहीं देता। अपनी-अपनी समझ की बात है। कहते हुए वे धीरे से हंस पड़े। पता नहीं, वे अपनी बात समझकर अपने पर ही हंसे थे या दूसरे पर।

तभी एक आदमी ने प्रवेश किया। सहसा लगा कि खलासी आ गया। पर वह पांडु-रोगी था। देखते ही वैद्यजी के मुख पर सन्तोष चमक आया। वे भीतर गए। एक तावीज़ लाते हुए बोले, "अब इसका असर देखो। बीस-पच्चीस रोज़ में इसका चमत्कार दिखाई पड़ेगा।" पांडु-रोगी की बांह में तावीज़ बांधकर और उसके कुछ आने पैसे जेब में डालकर वे गम्भीर होकर बैठ गए।

रोगी चला गया तो फिर बोले, "यह विद्या भी हमारे पिताजी के पास थी। उनकी लिखी पुस्तकें पड़ी हैं.... बहुत सोचता हूं, उन्हें फिर से नकल कर लूं. ..बड़े अनुभव की बातें हैं। विश्वास की बात, बाबू। एक चुटकी धूल से आदमी चंगा हो सकता है। होमोपैथक और भला क्या है? एक चुटकी शक्कर। जिस पर विश्वास जम जाए, बस।"

चन्दर ने चलते हुए कहा, "अब तो औषधालय बन्द करने का समय हो गया, खाना खाने नहीं जाइएगा?"

"तुम चलो, हम दस-पांच मिनट बाद आएंगे।" वैद्यजी ने तहसीलवाला काम अपने आगे सरका लिया। दुकान का दरवाज़ा भटखुला करके बैठ गए। बाहर धूप की ओर देखकर दृष्टि चौंधिया जाती थी।

बगलवाले दूकानदार बच्चनलाल ने दुकान बन्द करके, घर जाते हुए वैद्य जी की दुकान खुली देखकर पूछा, "आज खाना खाने नहीं गए..."

"हां, ऐसे ही एक जरूरी काम है। अभी थोड़ी देर में चले जाएंगे।" वैद्यजी ने कहा और ज़मीन पर चटाई बिछाई; कागज़ रजिस्टर मेज़ से उठाकर नीचे फैला लिया। लेकिन गर्मी तो गर्मी पसीना थमता ही न था। रह-रहकर पंखा झेलते, फिर नकल करने लगते। कुछ देर मन मारकर काम किया, पर हिम्मत छूट गई। उठकर पुरानी धूल पड़ी शीशियां झाड़ने लगे। उन्हें लाइन से लगाया। लेकिन गर्मी की दोपहर....समय स्थिर लगता था। एक बार उन्होंने किवाड़ों के बीच से मुंह निकालकर सड़क की ओर निहारा। एकाध लोग नज़र आये। उन आते-जाते लोगों की उपस्थिति से बड़ा सहारा मिल गया। भीतर आए, बोर्ड का तार सीधा किया और उसे दुकान के सामने लटका दिया। धन्वन्तरि औषधालय का बोर्ड दुकान की गर्दन में तावीज़ की तरह लटक गया।

कुछ समय और बीता। आखिर उन्होंने हिम्मत की। एक लोटा पानी पिया और जांघों तक धोती सरकाकर मुस्तैदी से काम में जुट गए। बाहर कुछ आहट हुई। चिन्ता से उन्होंने देखा।

"आज आराम करने नहीं गए वैद्यजी" घर जाते हुए जान-पहचान के दुकानदार ने पूछा।

"बस जाने की सोच रहा हूं... कुछ काम पसर गया था, सोचा, करता चलूं..." कहकर वैद्यजी दीवार से पीठ टिकाकर बैठ गए। कुरता उतारकर एक ओर रख दिया। इकहरी छत की दुकान आंच-सी तप रही थी। वैद्यजी की आंखें बुरी तरह नींद से बोझिल हो रही थीं। एक झपकी आ गई...कुछ समय ज़रूर बीत गया था। नहीं रहा गया तो रजिस्टरों का तकिया बनाकर उन्होंने पीठ सीधी की। पर नींद...आती और चली जाती, न जाने क्या हो गया था!



सहसा एक आहट ने उन्हें चौंका दिया। आंखे खोलते हुए वे उठकर बैठ गए। बच्चनलाल दोपहर बिताकर वापस आ गया था।

"अरे, आज आप अभी तक गए ही नहीं..." उसने कहा।

वैद्यजी ज़ोर-ज़ोर से पंखा झलने लगे। बच्चनलाल ने दुकान से उतरते हुए पूछा, "किसी का इन्तज़ार है क्या?"

हाँ, एक मरीज आने को कह गया है... अभी तक आया नहीं। वैद्यजी ने बच्चनलाल को जाते देखा तो बात बीच में तोड़कर चुप हो गए और अपना पसीना पोंछने लगे।

## कमलेश्वर

कमलेश्वर - जन्म 6 जनवरी 1932। जन्म स्थान - मैनपुरी (उत्तर प्रदेश) अत्यंत साधारण स्थिति वाले परिवार में जन्म। किसी तरह पढ़ा। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में। गरीबी झेलते हुए बीएससी करने के बाद हिन्दी में एम.ए. भी किया। एम.ए. इलाहाबाद विश्वविद्यालय से। छात्र जीवन में ही राजनीतिक आंदोलन से संपर्क, इसी क्रम में वामपंथ से जुड़े। वामपंथी अखबार बेचने तक का काम किया।

आर्थिक संकट झेलते हुए एम.ए. करने के बाद भी बुक बौंड कंपनी में चौकीदार की नौकरी की। दिन में चौकीदारी और रात में कहानी-लेखन का काम करते थे। कहानियाँ छपने लगीं। इसी क्रम में कंपनी के मालिक को पता चल गया कि उनका चौकीदार ही हिन्दी का कहानीकार कमलेश्वर है, तो उन्होंने हाथ जोड़कर इनसे माफी मांगी। फिर कमलेश्वर वहां से अलग हो गये।

27 जनवरी 2007 को दिल्ली में कमलेश्वर का निधन लम्बी बीमारी के बाद

हुआ। सन् 1950 के बाद हिन्दी में नयी कहानी-आंदोलन त्रयी मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव के साथ एक स्तंभ। फिर नयी कहानियां, सारिका, कथा-यात्रा, गंगा आदि पत्रिकाओं का संपादन दैनिक भास्कर तथा अन्य नई दैनिक पत्रों का संपादन। सारिका के संपादन-काल में कहानी में समान्तर आंदोलन का संचालन किया। अनेक कहानीकारों को आगे बढ़ाया।

प्रकाशन-राजा निबंसिया, खोई हुई दिशाएँ, तीसरा आदमी, बयान, मानसरोवर के हंस, जार्ज पंचम की नाक, (कहानी संग्रह)

काली आंधी, डाकबंगला, एक सड़क सत्तावन गालियां, कितने पाकिस्तान (उपान्यास) हिन्दोस्ताँ हमारा (नाटक)। अनेक फिल्मों और दूरदर्शन कार्यक्रम के लिए लेखन।



# दादी-अम्मा

**कृष्णा सोबती**

बहार फिर आ गई। वसन्त की हल्की हवाएँ पतझर के फीके ओठों को चुपके से चूम गईं। जाड़े ने सिकुड़े-सिकुड़े पंख फड़फड़ाए और सर्दी दूर हो गई। आँगन में पीपल के पेड़ पर नए पात खिल-खिल आए। परिवार के हँसी-खुशी में तैरते दिन-रात मुस्कुरा उठे। भरा-भराया घर। सँभली-सँवरी-सी सुन्दर सलोनी बहुएँ। चंचलता से खिलखिलाती बेटियाँ। मजबूत बाँहोंवाले युवा बेटे। घर की मालकिन मेहराँ अपने हरे-भरे परिवार को देखती है और सुख में भीग जाती हैं यह पाँचों बच्चे उसकी उमर-भर की कमाई हैं।

उसे वे दिन नहीं भूलते जब ब्याह के बाद छह वर्षों तक उसकी गोद नहीं भरी थी। उठते-बैठते सास की गंभीर कठोर दृष्टि उसकी समूची देह को टटोल जाती। रात को तकिए पर सिर डाले-डाले वह सोचती कि पति के प्यार की छाया में लिपटे-लिपटे भी उसमें कुछ व्यर्थ हो गया है, असमर्थ हो गया है। कभी सकुचाती-सी ससुर के पास से निकलती तो लगता कि इस घर की देहरी पर पहली बार पाँव रखने पर जो आशीष उसे मिली थी, वह उसे सार्थक नहीं कर पाई। वह ससुर के चरणों में झुकी थी और उन्होंने सिर पर हाथ रखकर कहा था, "बहूरानी, फूलो-फलो।" कभी दर्पण के सामने खड़ी-खड़ी वह बाँहें फैलाकर देखती-क्या इन बाँहों में अपने उपजे किसी नन्हे-मुन्ने को भर लेने की क्षमता नहीं!

छह वर्षों की लम्बी प्रतीक्षा के बाद सर्दियों की एक लम्बी रात में करवट

बदलते-बदलते मेहराँ को पहली बार लगा था कि जैसे नर्म-नर्म लिहाफ से वह सिकुड़ी पड़ी है, वैसे ही उसमें, उसके तन-मन-प्राण के नीचे गहरे कोई धड़कन उससे लिपटी आ रही है। उसने अँधियारे में एक बार सोए हुए पति की ओर देखा था और अपने से लजाकर अपने हाथों से आँखें ढाँप ली थीं। बन्द पलकों के अन्दर से दो चमकती आँखें थीं, दो नन्हें-नन्हे हाथ थे, दो पाँव थे। सुबह उठकर किसी मीठी शिथिलता में घिरे-घिरे अँगड़ाई ली थी। आज उसका मन भरा है। मन भरा है। सास ने भाँपकर प्यार बरसाया थाः

"बहू, अपने को थकाओ मत, जो सहज-सहज कर सको, करो। बाकी मैं सँभाल लूँगी।"

वह कृतज्ञता से मुस्कुरा दी थी। काम पर जाते पति को देखकर मन में आया था कि कहे- 'अब तुम मुझे अलग बाहर ही नहीं, मेरे अंदर भी हो।'

दिन में सास आ बैठी; माथा सहलाते-सहलाते बोली, "बहूरानी, भगवान मेरे बच्चे को तुम-सा रूप दे और मेरे बेटे-सा जिगरा।"

बहू की पलकें झुक आईं।

"बेटी, उस मालिक का नाम लो, जिसने बीज डाला है। वह फल भी देगा।"

मेहराँ को माँ का घर याद हो आया। पास-पड़ोस की स्त्रियों के बीच माँ भाभी का हाथ आगे कर कह रही है, "बाबा, यह बताओ, मेरी बहू के भाग्य में कितने फल हैं?"

पास खड़ी मेहराँ समझ नहीं पाई। हाथ में फल?

"माँ, हाथ में फल कब होते हैं? फल किसे कहती हो माँ?"

माँ लड़की की बात सुनकर पहले हँसी, फिर गुस्सा होकर बोली, "दूर हो मेहराँ, जा, बच्चों के संग खेल!"

उस दिन मेहराँ का छोटा सा मन यह समझ नहीं पाया था, पर आज तो सास की बात वह समझ ही नहीं, बूझ भी रही थी।



बहू के हाथ में फल होते हैं, बहू के भाग्य में फल होते हैं और परिवार की बेल बढ़ती है।

मेहराँ की गोद से इस परिवार की बेल बढ़ी है। आज घर में तीन बेटे हैं, उनकी बहुएँ हैं। ब्याह देने योग्य दो बेटियाँ हैं। हल्के-हल्के कपड़ों में लिपटी उसकी बहुएँ जब उसके सामने झुकती हैं तो क्षण-भर के लिए मेहराँ के मस्तक पर घर की स्वामिनी होने का अभिमान उभर आता है। वह बैठे-बैठे उन्हें आशीष देती है और मुस्कुराती है। ऐसे ही, बिल्कुल ऐसे ही वह भी कभी सास के सामने झुकती थी। आज तो वह तीखी , निगाहवाली मालकिन, बच्चों की दादी-अम्मा बनकर रह गई है। पिछवाड़े के कमरे में से जब दादा के साथ बोलती हुई अम्मा की आवाज़ आती है तो पोते क्षण-भर ठिठककर अनसुनी कर देते हैं। बहुएँ एक-दूसरे को देखकर मन-ही-मन हँसती हैं। लाड़ली बेटियाँ सिर हिला-हिलाकर खिलखिलाती हुई कहती हैं, "दादी-अम्मा बूढ़ी हो आई, पर दादा से झगड़ना नहीं छोड़ा।"

मेहराँ भी कभी-कभी पति के निकट खड़ी हो कह देती है, "अम्मा नाहक बापू के पीछे पड़ी रहती हैं। बहू-बेटियोंवाला घर है, क्या यह अच्छा लगता है?"

पति एक बार पढ़ते-पढ़ते आँखें ऊपर उठाते हैं। पल-भर पत्नी की ओर देख दोबारा पन्ने पर दृष्टि गड़ा देते हैं। माँ की बात पर पति की मौन-गंभीर मुद्रा मेहराँ को नहीं भाती। लेकिन प्रयत्न करने पर भी वह कभी पति को कुछ कह देने तक खींच नहीं पाई। पत्नी पर एक उड़ती निगाह, और बस। किसी को आज्ञा देती मेहराँ की अवाज़ सुनकर कभी उन्हें भ्रम हो आता है। वह मेहराँ का नहीं अम्मा का ही रोबीला स्वर है। उनके होश में अम्मा ने कभी ढीलापन जाना ही नहीं। याद नहीं आता कि कभी माँ के कहने को वह जाने-अनजाने टाल सके हों। और अब जब माँ की बात पर बेटियों को हँसते सुनते हैं तो विश्वास नहीं आता। क्या सचमुच माँ आज ऐसी बातें किया करती हैं कि जिन पर बच्चे हँस सकें।

और अम्मा तो सचमुच उठते-बैठते बोलती है, झगड़ती है, झुकी कमर पर हाथ रखकर वह चारपाई से उठकर बाहर आती है तो जो सामने हो उस पर बरसने लगती है।

बड़ा पोता काम पर जा रहा है। दादी-अम्मा पास आ खड़ी हुई। एक बार ऊपर-तले देखा और बोली, "काम पर जा रहे हो बेटे, कभी दादा की ओर भी देख लिया करो, कब से उनका जी अच्छा नहीं। जिसके घर में भगवान के दिए बेटे-पोते हों, वह इस तरह बिना दवा-दारू पड़े रहते हैं।"

बेटा दादी-अम्मा की नज़र बचाता है। दादा की खबर क्या घर-भर में उसे ही रखनी है! छोड़ो, कुछ-न-कुछ कहती ही जाएँगी अम्मा, मुझे देर हो रही है। लेकिन दादी-अम्मा जैसे राह रोक लेती है, "अरे बेटा, कुछ तो लिहाज करो, बहू-बेटे वाले हुए, मेरी बात तुम्हें अच्छी नहीं लगती!"

मेहराँ मँझली बहु से कुछ कहने जा रही थी, लौटती हुई बोली, "अम्मा कुछ तो सोचो, लड़का बहू-बेटोंवाला है। तो क्या उस पर तुम इस तरह बरसती रहोगी?"

दादी-अम्मा ने अपनी पुरानी निगाह से मेहराँ को देखा और जलकर कहा, "क्यों नहीं बहू, अब तो बेटों को कुछ कहने के लिए तुमसे पूछना होगा! यह बेटे तुम्हारे हैं, घर-बार तुम्हारा है, हुक्म हासिल तुम्हारा है।"

मेहराँ पर इस सबका कोई असर नहीं हुआ। सास को वहीं खड़ा छोड़ वह बहू के पास चली गई।

दादी-अम्मा ने अपनी पुरानी आँखों से बहू की वह रोबीली चाल देखी और ऊँचे स्वर में बोली, "बहूरानी, इस घर में अब मेरा इतना-सा मान रह गया है! तुम्हें इतना घमंड...!"

मेहराँ को सास के पास लौटने की इच्छा नहीं थी, पर घमंड की बात सुनकर लौट आई।



"मान की बात करती हो अम्मा? तो आए दिन छोटी-छोटी बात लेकर जलने-कलपने से किसी का मान नहीं रहता।"

इस उलटी आवाज़ ने दादी-अम्मा को और जला दिया। हाथ हिला-हिलाकर क्रोध में रुक-रुककर बोली, "बहू, यह सब तुम्हारे अपने सामने आएगा! तुमने जो मेरा जीना दूभर कर दिया है, तुम्हारी तीनों बहुएँ भी तुम्हें इसी तरह समझेंगी क्यों नहीं, जरूर समझेंगी।"

कहती-कहती दादी-अम्मा झुकी कमर से पग उठाती अपने कमरे की ओर चल दी। राह में बेटे के कमरे का द्वार खुला देखा तो बोली, "जिस बेटे को मैंने अपना दूध पिलाकर पाला, आज उसे देखे मुझे महीनों बीत जाते हैं, उससे इतना नहीं हो पाता कि बूढ़ी अम्मा की सुधि ले।"

मेहराँ मँझली बहू को घर के काम-धन्धे के लिए आदेश दे रही थी। पर कान इधर ही थे। 'बहुएँ उसे भी समझेंगी' इस अभिशाप को वह कड़वा घूँट समझकर पी गई थी, पर पति के लिए सास का यह उलाहना सुनकर न रहा गया। दूर से ही बोली, "अम्मा, मेरी बात छोड़ो, पराए घर की हूँ, पर जिस बेटे को घर-भर में सबसे अधिक तुम्हारा ध्यान है, उसके लिए यह कहते तुम्हें झिझक नहीं आती? फिर कौन माँ है, जो बच्चों को पालती-पोसती नहीं!"

अम्मा ने अपनी झुर्रियों-पड़ी गर्दन पीछे की। माथे पर पड़े तेवरों में इस बार क्रोध नहीं भर्त्सना थी। चेहरे पर वही पुरानी उपेक्षा लौट आई, "बहू, किससे क्या कहा जाता है, यह तुम बड़े समधियों से माथा लगा सबकुछ भूल गई हो। माँ अपने बेटे से क्या कहे, यह भी क्या अब मुझे बेटे की बहू से ही सीखना पड़ेगा? सच कहती हो बहू, सभी माएँ बच्चों को पालती हैं। मैंने कोई अनोखा बेटा नहीं पाला था, बहू! फिर तुम्हें तो मैं पराई बेटी की करके मानती रही हूँ। तुमने बच्चे आप जने, आप ही वे दिन काटे, आप ही बीमारियाँ झेलीं!"

मेहराँ ने खड़े-खड़े चाहा कि सास यह कुछ कहकर और कहतीं। वह इतनी

दूर नहीं उतरी कि इन बातों का जवाब दे। चुपचाप पति के कमरे में जाकर इधर-उधर बिखरे कपड़े सहेजने लगी।

दादी-अम्मा कड़वे मन से अपनी चारपाई पर जा पड़ी। बुढ़ापे की उम्र भी कैसी होती है! जीते-जी मन से संग टूट जाता है। कोई पूछता नहीं, जानता नहीं। घर के पिछवाड़े जिसे वह अपनी चलती उम्र में कोठरी कहा करती थी, उसी में आज वह अपने पति के साथ रहती है। एक कोने में उसकी चारपाई और दूसरे कोने में पति की, जिसके साथ उसने अनगणित बहार और पतझर गुज़ार दिए हैं। कभी घंटों वे चुपचाप अपनी-अपनी जगह पर पड़े रहते हैं। दादी-अम्मा बीच-बीच में करवट बदलते हुए लम्बी साँस लेती है। कभी पतली नींद में पड़ी-पड़ी वर्षों पहले की कोई भूली-बिसरी बात करती है, पर बच्चों के दादा उसे सुनते नहीं। दूर कमरों में बहुओं की मीठी दबी-दबी हँसी वैसे ही चलती रहती है। बेटियाँ खुले-खुले खिलखिलाती हैं। बेटों के कदमों की भारी आवाज़ कमरे तक आकर रह जाती है और दादी-अम्मा और पास पड़े दादा में जैसे बीत गए वर्षों की दूरी झूलती रहती है।

आज दादा जब घंटों धूप में बैठकर अंदर आए तो अम्मा लेटी नहीं, चारपाई की बाँह पर बैठी थी। गाढ़े की धोती से पूरा तन नहीं ढका था। पल्ला कंधे से गिरकर एक ओर पड़ा था। वक्ष खुला था। आज वक्ष में ढकने को रह भी क्या गया था? गले और गर्दन की झुर्रियाँ एक जगह आकर इकट्ठी हो गई थीं। पुरानी छाती पर कई तिल चमक रहे थे। सिर के बाल उदासीनता से माथे के ऊपर सटे थे।

दादा ने देखकर भी नहीं देखा। अपने-सा पुराना कोट उतारकर खूँटी पर लटकाया और चारपाई पर लेट गए। दादी-अम्मा देर तक बिना हिले-डुले वैसी-की-वैसी बैठी रही। सीढ़ियों पर छोटे बेटे के पाँवों के उतावली-सी आहट हुई। उमंग की छोटी सी गुनगुनाहट द्वार तक आकर लौट गई। ब्याह के बाद के वे दिन, मीठे मधुर दिन। पाँव बार-बार घर की ओर लौटते हैं। प्यार-सी बहू



आँखों में प्यार भर-भरकर देखती है, लजाती है, सकुचाती है और पति की बाँहों में लिपट जाती है। अभी कुछ महीने हुए, यही छोटा बेटा माथे पर फूलों का सेहरा लगाकर ब्याहने गया था। बाजे-गाजे के साथ जब लौटा तो संग में दुलहिन थी। सबके साथ दादी-अम्मा ने भी पतोहू का माथा चूमकर उसे हाथ का कंगन दिया था। पतोहू ने झुककर दादी-अम्मा के पाँव छुए थे और अम्मा लेन-देन पर मेहराँ से लड़ाई -झगड़े की बात भुलकर कई क्षण दुलहिन के मुखड़े की ओर देखती रही थी। छोटी बेटी ने चंचलता से परिहास कर कहा था, "दादी-अम्मा, सच कहो भैया की दुलहिन तुम्हें पसंद आई? क्या तुम्हारे दिनों में भी शादी-ब्याह में ऐसे ही कपड़े पहने जाते थे?"

कहकर छोटी बेटी ने दादी के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। हँसी-हँसी में किसी और से उलट पड़ी।

मेहराँ बहू-बेटे घेरकर अंदर ले चली। दादी-अम्मा भटकी-भटकी दृष्टि से अगणित चेहरे देखती रही। कोई पास-पड़ोसिन उसे बधाई दे रही थी, "बधाई हो अम्मा, सोने-सी बहू आई है शुक्र है उस मालिक का, तुमने अपने हाथों छोटे पोते का भी काज सँवारा।"

अम्मा ने सिर हिलाया। सचमुच आज उस-जैसा कौन है! पोतों की उसे हौंस थी, आज पूरी हुई। पर काज सँवारने में उसने क्या किया, किसी ने कुछ पूछा नहीं तो करती क्या? समधियों से बातचीत, लेन-देन, दुलहिन के कपड़े-गहने, यह सब मेहराँ के अभ्यस्त हाथों से होता रहा है। घर में पहले दो ब्याह हो जाने पर अम्मा से सलाह-सम्मति करना भी आवश्यक नहीं रह गया। केवल कभी-कभी कोई नया गहना गढ़वाने पर या नया जोड़ा बनवाने पर मेहराँ उसे सास को दिखा देती रही है।

बड़ी बेटी देखकर कहती है, "माँ! अम्मा को दिखाने जाती हो, वह तो कहेंगी, 'यह गले का गहना हाथ लगाते उड़ता है। कोई भारी ठोस कंठा बनवाओ, सिर की सिंगार-पट्टी बनवाओ। मेरे अपने ब्याह में मायके से पचास तोले का

रानीहार चढ़ा था। तुम्हें याद नहीं, तुम्हारे ससुर को कहकर उसी के भारी जड़ाऊँ कंगन बनवाएं थे तुम्हारे ब्याह में!'"

मेहराँ बेटी की ओर लाड़ से देखती है। लड़की झूठ नहीं कहती। बड़े बेटों की सगाई में, ब्याह में, अम्मा बीसियों बार यह दोहरा चुकी हैं। अम्मा को कौन समझाए कि ये पुरानी बातें पुराने दिनों के साथ गईं!

अम्मा नाते-रिश्तों की भीड़ में बैठी-बैठी ऊँघती रही। एकाएक आँख खुली तो नीचे लटकते पल्ले से सिर ढक लिया। एक बेखबरी कि उघाड़े सिर बैठी रही। पर दादी-अम्मा को इस तरह अपने को सँभालते किसी ने देखा तक नहीं। अम्मा की ओर देखने की सुधि भी किसे है?

बहू को नया जोड़ा पहनाया जा रहा है। रोशनी में दुलहिन शरमा रही है। ननदें हास-परिहास कर रही हैं। मेहराँ घर में तीसरी बहू को देखकर मन-ही-मन सोच रही है कि बस, अब दोनों बेटियों को ठिकाने लगा दे तो सुर्खरू हो।

बहु का श्रृंगार देख दादी-अम्मा बीच-बीच में कुछ कहती हैं, "लड़कियों में यह कैसा चलन है आजकल? बहू के हाथों और पैरों में मेहँदी नहीं रचाई। यही तो पहला सगुन है।" दादी-अम्मा की इस बात को जैसे किसी ने सुना नहीं। साज-श्रृंगार में चमकती बहू को घेरकर मेहराँ दूल्हे के कमरे की ओर ले चली। नाते-रिश्ते की युवतियाँ मुस्कुरा-मुस्कुराकर शरमाने लगीं, दुल्हे के मित्र-भाई आँखों में नहीं, बाँहों में नए-नए चित्र भरने लगे और मेहराँ बहु पर आशीर्वाद बरसाकर लौटी तो देहरी के संग लगी दादी-अम्मा को देखकर स्नेह जताकर बोली, "आओ अम्मा, शुक्र है भगवान का, आज ऐसी मीठी घड़ी आई।"

अम्मा सिर हिलाती-हिलाती मेहराँ के साथ हो ली, पर आँखें जैसे वर्षों पीछे घूम गईं। ऐसे ही एक दिन वह मेहराँ को अपने बेटे के पास छोड़ आई थी। वह अंदर जाती थी, बाहर आती थी। वह इस घर की मालकिन थी।



पीछे, और पीछे -

बाजे-गाजे के साथ उसका अपना डोला इस घर के सामने आ खड़ा हुआ। गहनों की छनकार करती वह नीचे उतरी। घूँघट की ओट से मुस्कुराती, नीचे झुकती और पति की बूढ़ी फूफी से आशीर्वाद पाती।

दादी-अम्मा को ऊँघते देख बड़ी बेटी हिलाकर कहने लगी, "उठो अम्मा, जाकर सो रहो, यहाँ तो अभी देर तक हँसी-ठट्ठा होता रहेगा।"

दादी-अम्मा झँपी-झँपी आँखों से पोती की ओर देखती है और झुकी कमर पर हाथ रखकर अपने कमरे की ओर लौट जाती है।

उस दिन अपनी चारपाई पर लेटकर दादी-अम्मा सोई नहीं। आँखों में न ऊँघ थी, न नींद। एक दिन वह भी दुलहिन बनी थी। बूढ़ी फूफी ने सजाकर उसे भी पति के पास भेजा था। तब क्या उसने यह कोठरी देखी थी? ब्याह के बाद वर्षों तक उसने जैसे यह जाना ही नहीं कि फूफी दिन-भर काम करने के बाद रात को यहाँ सोती है। आँखें मुँद जाने से पहले जब फूफी बीमार हुई तो दादी-अम्मा ने कुलीन बहू की तरह उसकी सेवा करते-करते पहली बार यह जाना था कि घर में इतने कमरे होते हुए भी फूफी इस पिछवाड़े में अपने अन्तिम दिन-बरस काट गई है। पर यह देखकर, जानकर उसे आश्चर्य नहीं हुआ था। घर के पिछवाड़े में पड़ी फूफी की देह छाँहदार पेड़ के पुराने तने की तरह लगती थी, जिसके पत्तों की छाँह उससे अलग, उससे परे, घर-भर पर फैली हुई थी। आज तो दादी-अम्मा स्वयं फूफी बनकर इस कोठरी में पड़ी है। ब्याह के कोलाहल से निकलकर जब दादा थककर अपनी चारपाई पर लेटे तो एक लम्बा चैन का-सा साँस लेकर बोले, "क्या सो गई हो? इस बार की रौनक, लेन-देन तो मँझले और बड़े बेटे के ब्याह को भी पार कर गई। समधियों का बड़ा घर ठहरा!"

दादी-अम्मा लेन-देन की बात पर कुछ कहना चाहते हुए भी नहीं बोली। चुपचाप पड़ी रही। दादा सो गए, आवाज़े धीमी हो गईं। बरामदे में मेहराँ का

रोबीला स्वर नौकर-चाकरों को सुबह के लिए आज्ञाएँ देकर मौन हो गया। दादी-अम्मा पड़ी रही और पतली नींद से घिरी आँखों से नए-पुराने चित्र देखती रही। एकाएक करवट लेते-लेते दो-चार कदम उठाए और दादा की चारपाई के पास आ खड़ी हुई। झुककर कई क्षण तक दादा की ओर देखती रही। दादा नींद में बेखबर थे और दादी जैसे कोई पुरानी पहचान कर रही हो। खड़े-खड़े कितने पल बीत गए! क्या दादी ने दादा को पहचाना नहीं? चेहरा उसके पति का है पर दादी तो इस चेहरे को नहीं, चेहरे के नीचे पति को देखना चाहती है। उसे बिछुड़े गए वर्षों में से वापस लौटा लेना चाहती है।

सिरहाने पर पड़ा दादा का सिर बिल्कुल सफ़ेद था। बन्द आँखों से लगी झुर्रियाँ-ही-झुर्रियाँ थीं। एक सूखी बाँह कम्बल पर सिकुड़ी-सी पड़ी थी। यह नहीं. ...यह तो नहीं.... दादी-अम्मा जैसे सोते-सोते जाग पड़ी थी, वैसे ही इस भूले-भटके भँवर में ऊपर-नीचे होती चारपाई पर जा पड़ी।

उस दिन सुबह उठकर जब दादी-अम्मा ने दादा को बाहर जाते देखा तो लगा कि रात-भर की भटकी-भटकी तस्वीरों में से कोई भी तस्वीर उसकी नहीं थी। वह इस सूखी देह और झुके कन्धे में से किसे ढूँढ़ रही थी?

दादी-अम्मा चारपाई की बाँहों से उठी और लेट गई। अब तो इतनी-सी दिनचर्या शेष रह गई है। बीच-बीच में कभी उठकर बहुओं के कमरों की ओर जाती है तो लड़-झगड़कर लौट आती हैं कैसे हैं उसके पोते जो उम्र के रंग में किसी की बात नहीं सोचते? किसी की ओर नहीं देखते? बहू और बेटा, उन्हें भी कहाँ फरसत है? मेहराँ तो कुछ-न-कुछ कहकर चोट करने से भी नहीं चूकती। लड़ने को तो दादी भी कम नहीं, पर अब तीखा-तेज़ बोल लेने पर जैसे वह थककर चूर-चूर हो जाती है। बोलती है, बोलने के बिना रह नहीं पाती, पर बाद में घंटों बैठी सोचती रहती है कि वह क्यों उनसे माथा लगाती है, जिन्हें उसकी परवा नहीं। मेहराँ की तो अब चाल-ढाल ही बदल गई है। अब वह उसकी बहू नहीं, तीन बहुओं की सास है। ठहरी हुई गंभीरता से घर का शासन



चलाती है। दादी-अम्मा का बेटा अब अधिक दौड़-धूप नहीं करता। देखरेख से अधिक अब बहुओं द्वारा ससुर का आदर-मान ही अधिक होता है। कभी अंदर-बाहर जाते अम्मा मिल जाती है तो झुककर बेटा माँ को प्रणाम अवश्य करता है। दादी-अम्मा गर्दन हिलाती-हिलाती आशीर्वाद देती है, "जीयो बेटा, जीयो।"

कभी मेहराँ की जली-कटी बातें सोच बेटे पर क्रोध और अभिमान करने को मन होता है, पर बेटे को पास देखकर दादी-अम्मा सब भूल जाती है। ममता-भरी पुरानी आँखों से निहारकर बार-बार आशीर्वाद बरसाती चली जाती है, "सुख पाओ, भगवान बड़ी उम्र दे...." कितना गंभीर और शीलवान है उसका बेटा! है तो उसका न? पोतों को ही देखो, कभी झुककर दादा के पाँव तक नहीं छूते। आखिर माँ का असर कैसे जाएगा? इन दिनों बहू की बात सोचते ही दादी-अम्मा को लगता है कि अब मेहराँ उसके बेटे में नहीं अपने बेटों में लगी रहती है। दादी-अम्मा को वे दिन भूल जाते हैं जब बेटे के ब्याह के बाद बहू-बेटे के लाड़-चाव में उसे पति के खाने-पीने की सुधि तक न रहती थी और जब लाख-लाख शुक्र करने पर पहली बार मेहराँ की गोद भरनेवाली थी तो दादी-अम्मा ने आकर दादा से कहा था, "बहू के लिए अब यह कमरा खाली करना होगा। हम लोग फूफी के कमरे में जा रहेंगे।"

दादा ने एक भरपूर नज़रों से दादी-अम्मा की ओर देखा था, जैसे वह बीत गए वर्षों को अपनी दृष्टि से टटोलना चाहते हों। फिर सिर पर हाथ फेरते-फेरते कहा था, "क्या बेटे वाला कमरा बहू के लिए ठीक नहीं? नाहक क्यों यह सबकुछ उलटा-सीधा करवाती हो?"

दादी-अम्मा ने हाथ हिलाकर कहा, "ओह हो, तुम समझोगे भी! बेटे के कमरे में बहू को रखूँगी तो बेटा कहाँ जाएगा? उलटे-सीधे की फिक्र तुम क्यों करते हो, मैं सब ठीक कर लूँगी।"

और पत्नी के चले जाने पर दादा बहुत देर बैठे-बैठे भारी मन से सोचते

रहे कि जिन वर्षों का बीतना उन्होंने आज तक नहीं जाना, उन्हीं पर पत्नी की आशा विराम बनकर आज खड़ी हो गई है। आज सचमुच ही उसे इस उलटफेर की परवा नहीं।

इस कमरे में बड़ी फूफी उनकी दुलहिन को छोड़ गई थी। उस कमरे को छोड़कर आज वह फूफी के कमरे में जा रहे हैं। क्षण-भर के लिए, केवल क्षण-भर के लिए उन्हें बेटे से ईर्ष्या हुई और उदासीनता में बदल गई और पहली रात जब वह फूफी के कमरे में सोए तो देर गए तक भी पत्नी बहू के पास से नहीं लौटी थी। कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद उनकी पलकें झँपी तो उन्हें लगा कि उनके पास पत्नी का नहीं...फूफी का हाथ है। दूसरे दिन मेहराँ की गोद भरी थी, बेटा हुआ था। घर की मालकिन पति की बात जानने के लिए बहुत अधिक व्यस्त थी।

कुछ दिन से दादी-अम्मा का जी अच्छा नहीं। दादा देखते हैं, पर बुढ़ापे की बीमारी से कोई दूसरी बीमारी बड़ी नहीं होती। दादी-अम्मा बार-बार करवट बदलती है और फिर कुछ-कुछ देर के लिए हाँफकर पड़ी रह जाती है। दो-एक दिन से वह रसोईघर की ओर भी नहीं आई, जहाँ मेहराँ का आधिपत्य रहते हुए भी वह कुछ-न-कुछ नौकरों को सुनाने में चूकती नहीं है। आज दादी को न देखकर छोटी बेटी हँसकर मँझली भाभी से बोली, "भाभी, दादी-अम्मा के पास अब शायद कोई लड़ने-झगड़ने की बात नहीं रह गई, नहीं तो अब तक कई बार चक्कर लगातीं।"

दोपहर को नौकर जब अम्मा के यहाँ से अनछुई थाली उठा लाया तो मेहराँ का माथा ठनका। अम्मा के पास जाकर बोली, "अम्मा, कुछ खा लिया होता, क्या जी अच्छा नहीं?"

एकाएक अम्मा कुछ बोली नहीं। क्षण-भर रुककर आँखें खोली और मेहराँ को देखती रह गई।

"खाने को मन न हो तो अम्मा दूध ही पी लो।"



अम्मा ने 'हाँ' - 'ना' कुछ नहीं की। न पलकें ही झपकीं। इस दृष्टि से मेहराँ बहुत वर्षों के बाद आज फिर डरी। इनमें न क्रोध था, न सास की तरेर थी, न मनमुटाव था। एक लम्बा गहरा उलाहना-पहचानते मेहराँ को देर नहीं लगी। डरते-डरते सास के माथे को छुआ। ठंडे पसीने से भीगा था। पास बैठकर धीरे से स्नेह-भरे स्वर में बोली, "अम्मा, जो कहो, बना लाती हूँ।"

अम्मा ने सिरहाने पर पड़े-पड़े सिर हिलाया - नहीं, कुछ नहीं- और बहू के हाथ से अपना हाथ खींच लिया।

मेहराँ पल-भर कुछ सोचती रही और बिना आहट किए बाहर हो गई। बड़ी बहू के पास जाकर चिंतित स्वर में बोली, "बहू, अम्मा कुछ अधिक बीमार लगती हैं, तुम जाकर पास बैठो तो मैं कुछ बना लाऊँ।"

बहू ने सास की आवाज़ में आज पहली बार दादी-अम्मा के लिए घबराहट देखी। दबे पाँव जाकर अम्मा के पास बैठ हाथ-पाँव दबाने लगी। अम्मा ने इस बार हाथ नहीं खींचे। ढीली सी लेटी रही।

मेहराँ ने रसोईघर में जाकर दूध गर्म किया। औटाने लगी तो एकाएक हाथ अटक गया-क्या अम्मा के लिए यह अन्तिम बार दूध लिये जा रही है?

दादी-अम्मा ने बेखबरी में दो-चार घूँट दूध पीकर छोड़ दिया। चारपाई पर पड़ी अम्मा चारपाई के साथ लगी दीखती थीं। कमरे में कुछ अधिक सामान नहीं था। सामने के कोने में दादा का बिछौना बिछा था।

शाम को दादा आए तो अम्मा के पास बहू और पतोहू को बैठे देख पूछा, "अम्मा तुम्हारी रूठकर लेटी है या....?"

मेहराँ ने अम्मा की बाँह आगे कर दी। दादा ने छूकर हौले से कहा, "जाओ बहू, बेटा आता ही होगा। उसे डॉक्टर को लिवाने भेज देना।"

मेहराँ सुसर के शब्दों को गंभीरता जानते हुए चुपचाप बाहर हो गई।

बेटे के साथ जब डॉक्टर आया तो दादी-अम्मा के तीनों पोते भी वापस आ

खड़े हुए। डॉक्टर ने सधे-सधाए हाथों से दादी की परीक्षा की। जाते-जाते दादी के बेटे से कहा, "कुछ ही घंटे और...।"

मेहराँ ने बहुओं को धीमे स्वर में आज्ञाएँ दीं और बेटों से बोली, "बारी-बारी से खा-पी लो, फिर पिता और दादा को भेज देना।"

अम्मा के पास से हटने की पिता और दादा की बारी नहीं आई उस रात। दादी ने बहुत जल्दी की। डूबते-डूबते हाथ-पाँवों से छटपटाकर एक बार आँखें खोलीं और बेटे और पति के आगे बाँहे फैला दीं। जैसे कहती हो- 'मुझे तुम पकड़ रखो।'

दादी का श्वास उखड़ा, दादा का कंठ जकड़ा और बेटे ने माँ पर झुककर पुकारा, "अम्मा,...अम्मा।"

"सुन रही हूँ बेटा, तुम्हारी आवाज़ पहचानती हूँ।"

मेहराँ सास की ओर बढ़ी और ठंडे हो रहे पैरों को छूकर याचना-भरी दृष्टि से दादी-अम्मा को बिछुरती आँखों से देखने लगी। बहू को रोते देख अम्मा की आँखों में क्षण-भर को संतोष झलका, फिर वर्षों की लड़ाई-झगड़े का आभास उभरा। द्वार से लगी तीनों पोतों की बहुएँ खड़ी थीं। मेहराँ ने हाथ से संकेत किया। बारी-बारी दादी-अम्मा के निकट तीनों झुकीं। अम्मा की पुतलियों में जीवन-भर का मोह उतर गया। मेहराँ से उलझा कड़वापन ढीला हो गया। चाहा कि कुछ कहे....कुछ.... पर छूटते तन से दादी-अम्मा ओंठों पर कोई शब्द नहीं खींच पाई।

"अम्मा, बहुओं को आशीष देती जाओ....," मेहराँ के गीले कंठ में आग्रह था, विनय थी।

अम्मा ने आँखों के झिलमिलाते पर्दे में से अपने पूरे परिवार की ओर देखा-बेटा....बहू....पति....पोते-पतोहू...पोतियाँ। छोटी पतोहू की गुलाबी ओढ़नी



जैसे दादी के तन-मन पर बिखर गई। उस ओढ़नी से लगे गोर-गोरे लाल-लाल बच्चे, हँसते-खेलते, भोली किलकारियाँ...।

दादी-अम्मा की धुँधली आँखों में से और सब मिट गया, सब पुँछ गया, केवल ढेर-से अगणित बच्चे खेलते रह गए...!

उसके पोते, उसके बच्चे....।

पिता और पुत्र ने एक साथ देखा, अम्मा जैसे हल्के से हँसी, हल्के से....।

मेहराँ को लगा, अम्मा बिल्कुल वैसे हँस रही है जैसे पहली बार बड़े बेटे के जन्म पर वह उसे देखकर हँसी थी। समझ गई-बहुओं को आशीर्वाद मिल गया।

दादा ने अपने सिकुड़े हाथ में दादी का हाथ लेकर आँखों से लगाया और बच्चों की तरह बिलख-बिलखकर रो पड़े।

रात बीत जाने से पहले दादी-अम्मा बीत गई। अपने भरेपूरे परिवार के बीच वह अपने पति, बेटे और पोतों के हाथों में अंतिम बार घर से उठ गई। दाह-संस्कार हुआ और दादी-अम्मा की पुरानी देह फूल हो गई।

देखने-सुननेवाले बोले, "भाग्य हो तो ऐसा, फलता-फूलता परिवार।"

मेहराँ ने उदास-उदास मन से सबके लिए नहाने का सामान जुटाया। घर-बाहर धुलाया। नाते-रिश्तेदार पास-पड़ोसी अब तक लौट गए थे। मौत के बाद रूखी सहमी-सी दुपहर। अनचाहे मन से कुछ खा-पीकर घरवाले चुपचाप खाली हो बैठे। अम्मा चली गई, पर परिवार भरापूरा है। पोते थककर अपने-अपने कमरों मे जा लेटे। बहुएँ उठने से पहले सास की आज्ञा पाने को बैठी रहीं। दादी-अम्मा का बेटा निढाल होकर कमरे में जा लेटा। अम्मा की खाली कोठरी का ध्यान आते ही मन बह आया। कल तक अम्मा थी तो सही उस कोठी में। रुआँसी आँखें बरसकर झुक आईं तो सपने में देखा, नदी-किनारे घाट पर

अम्मा खड़ी हैं अपनी चिता को जलते देख कहती है, 'जाओ बेटा, दिन ढलने को आया, अब घर लौट चलो, बहू राह देख रही होगी। जरा सँभलकर जाना। बहू से कहना, बेटियों को अच्छे ठिकाने लगाए।'

दृश्य बदला। अम्मा द्वार पर खड़ी है। झाँककर उसकी ओर देखती है, 'बेटा, अच्छी तरह कपड़ा ओढ़कर सोओ। हाँ बेटा, उठो तो! कोठरी में बापू को मिल आओ, यह विछोह उनसे न झेला जाएगा। बेटा, बापू को देखते रहना। तुम्हारे बापू ने मेरा हाथ पकड़ा था, उसे अंत तक निभाया, पर मैं ही छोड़ चली।'

बेटे ने हड़बड़ाकर आँखें खोलीं। कई क्षण द्वार की ओर देखते रह गए। अब कहाँ आएगी अम्मा इस देहरी पर...।

बिना आहट किए मेहराँ आई। रोशनी की। चेहरे पर अम्मा की याद नहीं, अम्मा का दुख था। पति को देखकर ज़रा सी रोई और बोली, "जाकर ससुरजी को तो देखो। पानी तक मुँह नहीं लगाया।"

पति खिड़की में से कहीं दूर देखते रहे। जैसे देखने के साथ कुछ सुन रहे हों- 'बेटा, बापू को देखते रहना, तुम्हारे बापू ने तो अंत तक संग निभाया, पर मैं ही छोड़ चली।'

"उठो।" मेहराँ कपड़ा खींचकर पति के पीछे हो ली। अम्मा की कोठरी में अँधेरा था। बापू उसी कोठरी के कोने में अपनी चारपाई पर बैठे थे। नज़र दादी-अम्मा की चारपाईवाली खाली जगह पर गड़ी थी। बेटे को आया जान हिले नहीं।

"बापू, उठो, चलकर बच्चों में बैठो, जी सँभलेगा।"

बापू ने सिर हिला दिया।

मेहराँ और बेटे की बात बापू को मानो सुनाई नहीं दी। पत्थर की तरह बिना हिले-डुले बैठे रहे। बहू-बेटा, बेटे की माँ.....खाली दीवारों पर अम्मा की तस्वीरें ऊपर-नीचे होती रहीं। द्वार पर अम्मा घूँघट निकाले खड़ी है। बापू को अंदर आते



देख शरमाती है और बुआ की ओट हो जाती है। बुआ स्नेह से हँसती है। पीठ पर हाथ फेरकर कहती है, 'बहू, मेरे बेटे से कब तक शरमाओगी।?'

अम्मा बेटे को गोद में लिये दूध पिला रही हैं बापू घूम-फिरकर पास आ खड़े होते हैं। तेवर चढ़े। तीखे बालों को फीका बनाकर कहते हैं, 'मेरी देखरेख अब सब भूल गई हो। मेरे कपड़े कहाँ डाल दिए?' अम्मा बेटे के सिर को सहलाते-सहलाते मुस्कुराती है। फिर बापू की आँखों में भरपूर देखकर कहती है, 'अपने ही बेटे से प्यार का बँटवारा कर झुँझलाने लगे!'

बापू इस बार झुँझलाते नहीं, झिझकते हैं, फिर एकाएक दूध पीते बेटे को अम्मा से लेकर चूम लेते हैं। मुन्ने के पतले नर्म ओठों पर दूध की बूँद अब भी चमक रही है। बापू अँधेरे में अपनी आँखों पर हाथ फेरते हैं। हाथ गीले हो जाते हैं। उनके बेटे की माँ आज नहीं रही।

तीनों बेटे दबे-पाँवों जाकर दादा को झाँक आए। बहुएँ सास की आज्ञा पा अपने-अपने कमरों में जा लेटीं। बेटियों को सोता जान मेहराँ पति के पास आई तो सिर दबाते-दबाते प्यार से बोली, "अब हौसला करो"... लेकिन एकाएक किसी की गहरी सिसकी सुन चौंक पड़ी। पति पर झुककर बोली, "बापू की आवाज़ लगती है, देखो तो।"

बेटे ने जाकर बाहरवाला द्वार खोला, पीपल से लगी झुकी-सी छाया। बेटे ने कहना चाहा, 'बापु'! पर बैठे गले से आवाज़ निकली नहीं। हवा में पत्ते खड़खड़ाए, टहनियाँ हिलीं और बापू खड़े-खड़े सिसकते रहे।

"बापू!"

इस बार बापू के कानों में बड़े पोते की आवाज़ आई। सिर ऊँचा किया, तो तीनों बेटों के साथ देहरी पर झुकी मेहराँ दीख पड़ी। आँसुओं के गीले पूर में से धुंध बह गई। मेहराँ अब घर की बहू नहीं, घर की अम्मा लगती है। बड़े बेटे का हाथ पकड़कर बापू के निकट आई। झुककर गहरे स्नेह से बोली, "बापू,

अपने इन बेटों की ओर देखो, यह सब अम्मा का ही तो प्रताप है। महीने-भर के बाद बड़ी बहू की झोली भरेगी, अम्मा का परिवार और फूले-फलेगा।"

बापू ने इस बार सिसकी नहीं भरी। आँसुओं को खुले बह जाने दिया। पेड़ के कड़े तने से हाथ उठाते-उठाते सोचा-दूर तक धरती में बैठी अगणित जड़ें अंदर-ही-अंदर इस बड़े पुराने पीपल को थामे हुए हैं। दादी-अम्मा इसे नित्य पानी दिया करती थी। आज वह भी धरती में समा गई है। उसके तन से ही तो बेटेपोते का यह परिवार फैला है। पीपल की घनी छाँह की तरह यह और फैलेगा। बहू सच कहती है। यह सब अम्मा का ही प्रताप है। वह मरी नहीं। वह तो अपनी देह पर के कपड़े बदल गई है, अब वह बहू में जीएगी, फिर बहू की बहू में...।

## कृष्णा सोबती

जन्म 18 फरवरी 1925 - गुजरात (पाकिस्तान) शिक्षा - दिल्ली, शिमला, लाहौर।

महत्वपूर्ण कृतियाँ - उपन्यास - डार से विछुरी, मित्रोमरजानी, सूरजमुखी अंधेरे में, तिनपहाड़, यारों के यार, दिलोदानिश, ज़िंदारुख, ज़िन्दगी नामा, ऐ लड़की

कहानियाँ - बादलों के घेरे में

संस्मरण - हमदशमत

सम्मान- साहित्य अकादमी, साहित्य शिरोमणि, मैथिलीशरण गुप्त पुरस्कार, तथा अन्य।

संपर्कः- पूर्वाशा, आनंद लोक, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091



# परिन्दे

**निर्मल वर्मा**

Can we do nothing for the dead? And for a long time the answer had been – nothing!

– Ktatherin Mansfield

अँधेरे गलियारे में चलते हुए लतिका ठिठक गयी। दीवार का सहारा लेकर उसने लैम्प की बत्ती बढ़ा दी। सीढ़ियों पर उसकी छाया एक बैडौल कटी-फटी आकृति खींचने लगी। सात नम्बर कमरे में लड़कियों की बातचीत और हँसी-ठहाकों का स्वर अभी तक आ रहा था। लतिका ने दरवाजा खटखटाया। शोर अचानक बंद हो गया।

"कौन है?"

लतिका चुप खड़ी रही। कमरे में कुछ देर तक घुसर-पुरस होती रही, फिर दरवाजे की चिटखनी के खुलने का स्वर आया। लतिका कमरे की देहरी से कुछ आगे बढ़ी, लैम्प की झपकती लौ में लड़कियों के चेहरे सिनेमा के परदे पर ठहरे हुए क्लोजअप की भाँति उभरने लगे।

"कमरे में अँधेरा क्यों कर रखा है?" लतिका के स्वर में हल्की-सी झिड़की का आभास था।

"लैम्प में तेल ही खत्म हो गया, मैडम!"

यह सुधा का कमरा था, इसलिए उसे ही उत्तर देना पड़ा। होस्टल में शायद वह सबसे अधिक लोकप्रिय थी, क्योंकि सदा छुट्टी के समय या रात को डिनर

के बाद आस-पास के कमरों में रहनेवाली लड़कियों का जमघट उसी के कमरे में लग जाता था। देर तक गप़-शप, हँसी-मजाक चलता रहता।

"तेल के लिए करीमुद्दीन से क्यों नहीं कहा?"

"कितनी बार कहा मैडम, लेकिन उसे याद रहे तब तो।"

कमरे में हँसी की फुहार एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गयी। लतिका के कमरे में आने से अनुशासन की जो घुटन घिर आयी थी वह अचानक बह गयी। करीमुद्दीन होस्टल का नौकर था। उसके आलस और काम में टालमटोल करने के किस्से होस्टल की लड़कियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आते थे।

लतिका को हठात् कुछ स्मरण हो आया। अँधेरे में लैम्प घुमाते हुए चारों ओर निगाहें, दौड़ायी। कमरे में चारों और घेरा बनाकर वे बैठी थीं - पास-पास एक-दूसरे से सटकर। सबके चेहरे परिचित थे, किन्तु लैम्प के पीले मद्धिम प्रकाश में मानो कुछ बदल गया था, या जैसे वह उन्हें पहली बार देख रही थी।

"जूली, अब तक तुम इस ब्लाक में क्या कर रही हो?"

जूली खिड़की के पास पलँग के सिरहाने बैठी थी। उसने चुपचाप आँखें नीची कर ली। लैम्प का प्रकाश चारों ओर से सिमटकर अब केवल उसके चेहरे पर गिर रहा था।

"नाइट रजिस्टर पर दस्तखत कर दिये?"

"हाँ, मैडम।"

"फिर....?" लतिका का स्वर कड़ा हो आया। जूली सकुचाकर खिड़की से बाहर देखने लगी।

जब से लतिका इस स्कूल में आयी है, उसने अनुभव किया है कि होस्टल के इस नियम का पालन डाँट-फटकार के बावजूद नहीं होता।

"मैडम, कल से छुट्टियाँ शुरू हो जायेंगी, इसलिए आज रात हम सबने



मिलकर..." और सुधा पूरी बात न कहकर हेमन्ती की ओर देखते हुए मुस्कराने लगी।

"हेमन्ती के गाने का प्रोग्राम है, आप भी कुछ देर बैठिए न।"

लतिका को उलझन मालूम हुई। इस समय यहाँ आकर उसने इनके मजे को किरकिरा कर दिया। इस छोटे-से-हिल-स्टेशन पर रहते उसे खासा अर्सा हो गया, लेकिन कब समय पतझड़ और गर्मियों का घेरा पार कर सर्दी की छुट्टियों का घेरा पार कर सर्दी की छुट्टियों की गोद में सिमट जाता है, उसे कभी याद नहीं रहता।

चोरों की तरह चुपचाप वह देहरी से बाहर को गयी। उसके चेहरे का तनाव ढ़ीला पड़ गया। वह मुस्कराने लगी।

"मेरे संग स्नो-फॉल देखने कोई नहीं ठहरेगा?"

"मैडम, छुट्टियों में क्या आप घर नहीं जा रही हैं?" सब लड़कियों की आँखे उस पर जम गयीं।

"अभी कुछ पक्का नहीं है-आई लव द स्नो-फॉल!"

लतिका को लगा कि यही बात उसने पिछले साल भी कही थी और शायद पिछले से पिछले साल भी। उसे लगा मानों लड़कियाँ उसे सन्देह की दृष्टि से देख रही है, मानो उन्होंने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उसका सिर चकराने लगा, मानो बादलों का स्याह झुरमुट किसी अनजाने कोने से उठकर उसे अपने में डुबा लेगा। वह थोड़ा-सा हँसी, फिर धीरे-से उसने सर को झटक दिया।

"जूली, तुमसे कुछ काम है, अपने ब्लॉक में जाने से पहले मुझे मिल लेना-वेल गुड नाइट!" लतिका ने अपने पीछे दरवाज़ा बंद कर दिया।

"गुड नाइट मैडम, गुड नाइट, गुड नाइट..."

गलियारे की सीढ़ियाँ न उतरकर लतिका रेलिंग के सहारे खड़ी हो गयी। लैंप की बत्ती को नीचे घुमाकर कोने में रख दिया। बाहर धुन्ध की नीली तहें बहुत

घनी हो चली थीं। लॉन पर लगे हुए चीड़ के पत्तों की सरसराहट हवा के झोंकों के संग कभी तेज, कभी धीमी होकर भीतर बह आती थी। हवा में सर्दी का हल्का-सा आभास पाकर लतिका के दिमाग में कल से शुरू होनेवाली छुट्टियों का ध्यान भटक आया। उसने आँखें मूँद ली। उसे लगा कि जैसे उसकी टाँगें बाँस की लकड़ियों की तरह उसके शरीर से बँधी है, जिसकी गाँठें धीरे-धीरे खुलती जा रही है। सिर की चकराहट अभी मिटी नहीं थी, मगर अब जैसे वह भीतर न होकर बाहर फैली हुई धुन्ध का हिस्सा बन गयी थी।

सीढ़ियों पर बातचीत का स्वर सुनकर लतिका जैसे सोते से जगी। शॉल को कन्धों पर समेटा और लैम्प उठा लिया। डॉ. मुकर्जी मि. ह्यूबर्ट के संग एक अंग्रेजी धुन गुनगुनाते हुए ऊपर आ रहे थे। सीढ़ियों पर अँधेरा था और ह्यूबर्ट को बार-बार अपनी छड़ी से रास्ता टटोलना पड़ता था। लतिका ने दो-चार सीढ़ियाँ उतरकर लैम्प को नीचे झुका दिया। "गुड ईवनिंग डाक्टर, गुड ईवनिंग मि. ह्यूबर्ट!" "थैंक यू मिस लतिका" - ह्यूबर्ट के स्वर में कृतज्ञता का भाव था। सीढ़ियाँ चढ़ने से उनकी साँस तेज हो रही थी और वह दीवार से लगे हुए हाँफ रहे थे। लैम्प की रोशनी में उनके चेहरे का पीलापन कुछ ताँबे के रंग जैसा हो गया था।

"यहाँ अकेली क्या कर रही हो मिस लतिका?" - डाक्टर ने होंठों के भीतर से सीटी बजायी।

"चेकिंग करके लौट रही थी। आज इस वक्त ऊपर कैसे आना हुआ मिस्टर ह्यूबर्ट?"

ह्यूबर्ट ने मुस्कराकर अपनी छड़ी डाक्टर के कन्धों से छुला दी - "इनसे पूछो, यही मुझे जबर्दस्ती घसीट लाये हैं।"

"मिस लतिका, हम आपको निमन्त्रण देने आ रहे थे। आज रात मेरे कमरे में एक छोटा-सा-कन्सर्ट होगा जिसमें मि. ह्यूबर्ट शोपां और चाइकोव्स्की के



कम्पोजीशन बजायेंगे और फिर क्रीम कॉफी पी जायेगी। और उसके बाद अगर समय रहा, तो पिछले साल हमने जो गुनाह किये हैं उन्हें हम सब मिलकर कन्फेस करेंगे।" डाक्टर मुकर्जी के चेहरे पर भारी मुस्कान खेल गयी।

"डाक्टर, मुझे माफ करें, मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है।"

"चलिए, यह ठीक रहा। फिर तो आप वैसे भी मेरे पास आती।" डाक्टर ने धीरे-से लतिका के कंधों को पकड़कर अपने कमरे की तरह मोड़ दिया।

डाक्टर मुकर्जी का कमरा ब्लॉक के दूसरे सिरे पर छत से जुड़ा हुआ था। वह आधे बर्मी थे, जिसके चिह्न उनकी थोड़ी दबी हुई नाक और छोटी-छोटी चंचल आँखों से स्पष्ट थे। बर्मा पर जापानियों का आक्रमण होने के बाद वह इस छोटे से पहाड़ी शहर में आ बसे थे। प्राइवेट प्रैक्टिस के अलावा वह कान्वेन्ट स्कूल में हाईजीन-फिजियालोजी भी पढ़ाया करते थे और इसलिए उनको स्कूल के होस्टल में ही एक कमरा रहने के लिए दे दिया गया था। कुछ लोगों का कहना था कि बर्मा से आते हुए रास्ते में उनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी, लेकिन इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि डाक्टर स्वयं कभी अपनी पत्नी की चर्चा नहीं करते।

बातों के दौरान डाक्टर अक्सर कहा करते हैं - "मरने से पहले मैं एक दफा बर्मा जरूर जाऊगा" - और तब एक क्षण के लिए उनकी आँखों में एक नमी-सी छा जाती। लतिका चाहने पर भी उनसे कुछ पूछ नही पाती। उसे लगता कि डाक्टर नहीं चाहते कि कोई अतीत के सम्बन्ध में उनसे कुछ भी पूछे या सहानुभूति दिखलाये। दूसरे ही क्षण अपनी गम्भीरता को दूर ठेलते हुए वह हँस पड़ते - एक सूखी, बूझी हुई हँसी।

होम-सिक्नेस ही एक ऐसी बीमारी है जिसका इलाज किसी डाक्टर के पास नहीं है।

छत पर मेज-कुर्सियाँ डाल दी गयी और भीतर कमरे में परकोलेटर में कॉफी का पानी चढ़ा दिया गया।

"सुना है अगले दो-तीन वर्षों में यहाँ पर बिजली का इन्तजाम हो जायेगा" -डाक्टर ने स्प्रिट लैम्प जलाते हुए कहा।

"यह बात तो पिछले दस सालों से सुनने में आ रही है। अंग्रेजों ने भी कोई लम्बी-चौड़ी स्कीम बनायी थी, पता नहीं उसका क्या हुआ" - ह्यूबर्ट ने कहा। वह आराम कुर्सी पर लेटा हुआ बाहर लॉन की ओर देख रहा था।

लतिका कमरे से दो मोमबत्तियाँ ले आयी। मेज के दोनों सिरों पर टिकाकर उन्हें जला दिया गया। छत का अँधेरा मोमबत्ती की फीक़ी रोशनी के इर्द-ग़िर्द सिमटने लगा। एक घनी नीरवता चारों ओर घिरने लगी। हवा में चीड़ के वृक्षों की साँय-साँय दूर-दूर तक फैली पहाड़ियों और घाटियों में सीटियों की गूँज-सी छोड़ती जा रही थी।

"इस बार शायद बर्फ जल्दी गिरेगी, अभी से हवा में एक सर्द खुश्की-सी महसूस होने लगी है" - डाक्टर का सिगार अँधेरे में लाल बिन्दी-सा चमक रहा था।

"पता नहीं, मिस वुड को स्पेशल सर्विस का गोरखधन्धा क्यों पसन्द आता है। छुट्टियों में घर जाने से पहले क्या यह जरूरी है कि लड़कियाँ फादर एल्मण्ड का सर्मन सुनें?" - ह्यूबर्ट ने कहा।

डॉक्टर को फादर एल्मण्ड एक आँख नहीं सुहाते थे।

लतिका कुर्सी पर आगे झुककर प्यालों में कॉफी उँडेलने लगी। हर साल स्कूल बन्द होने के दिन यही दो प्रोग्राम होते हैं - चैपल में स्पेशल सर्विस और उसके बाद दिन में पिकनिक। लतिका को पहला साल याद आया जब डाक्टर के संग पिकनिक के बाद वह क्लब गयी थी। डाक्टर बार में बैठे थे। बार रूम कुमाऊँ रेजीमेण्ट के अफसरों से भरा हुआ था। कुछ देर तक बिलियर्ड का खेल देखने के बाद जब वह वापिस बार की ओर आ रहे थे, तब उसने दायीं ओर क्लब की लाइब्रेरी में देखा- मगर उसी समय डाक्टर मुकर्जी पीछे से आ गये थे। मिस लतिका, यह मेजर गिरीश नेगी है।" बिलियर्ड रूम से आते हुए



हँसी-ठहाकों के बीच वह नाम दब-सा गया था। वह किसी किताब के बीच में उँगली रखकर लायब्रेरी की खिड़की से बाहर देख रहा था।

"हलो डाक्टर" - वह पीछे मुड़ा। तब उस क्षण...

उस क्षण न जाने क्यों लतिका का हाथ काँप गया और कॉफी की कुछ गर्म बूँदें उसकी साड़ी पर छलक आयी। अँधेरे में किसी ने नहीं देखा कि लतिका के चेहरे पर एक उनींदा रीतापन घिर आया है।

हवा के झोंके से मोमबत्तियों की लौ फड़कने लगी। छत से भी ऊँची काठगोदाम जानेवाली सड़क पर यू.पी. रोडवेज की आखिरी बस डाक लेकर जा रही थी। बस की हैड लाइट्स में आस-पास फैली हुई झाड़ियों की छायाएँ घर की दीवार पर सरकती हुई गायब होने लगीं।

"मिस लतिका, आप इस साल भी छुट्टियों में यहीं रहेंगी?" डाक्टर ने पूछा।

डाक्टर का सवाल हवा में टँगा रहा। उसी क्षण पियानो पर शोपां का नोक्टर्न ह्यूबर्ट की उँगलियों के नीचे से फिसलता हुआ धीरे-धीरे छत के अँधेरे में घुलने लगा-मानो जल पर कोमल स्वप्निल उर्मियाँ भँवरों का झिलमिलाता जाल बुनती हुई दूर-दूर किनारों तक फैलती जा रही हों। लतिका को लगा कि जैसे कहीं बहुत दूर बर्फ की चोटियों से परिन्दों के झुण्ड नीचे अनजान देशों की ओर उड़े जा रहे हैं। इन दिनों अक्सर उसने अपने कमरे की खिड़की से उन्हें देखा है-धागे में बँधे चमकीले लट्टुओं की तरह वे एक लम्बी, टेढ़ी-मेढ़ी कतार में उड़े जाते हैं, पहाड़ों की सुनसान नीरवता से परे, उन विचित्र शहरों की ओर जहाँ शायद वह कभी नहीं जायेगी।

लतिका आर्म चेयर पर ऊँघने लगी। डाक्टर मुकर्जी का सिगार अँधेरे में चुपचाप जल रहा था। डाक्टर को आश्चर्य हुआ कि लतिका न जाने क्या सोच रही है और लतिका सोच रही थी-क्या वह बूढ़ी होती जा रही है? उसके सामने स्कूल की प्रिंसिपल मिस वुड का चेहरा घूम गया-पोपला मुँह, आँखों के नीचे

झूलती हुई मांस की थैलियाँ, ज़रा-ज़रा सी बात पर चिढ़ जाना, कर्कश आवाज में चीखना-सब उसे 'ओल्डमेड' कहकर पुकारते हैं। कुछ वर्षों बाद वह भी हू-ब-हू वैसी ही बन जायेगी...लतिका के समूचे शरीर में झूरझूरी-सी दौड़ गयी, मानो अनजाने में उसने किसी गलीज वस्तु को छू लिया हो। उसे याद आया कुछ महीने पहले अचानक उसे ह्यूबर्ट का प्रेमपत्र मिला था - भावुक याचना से भरा हुआ पत्र, जिसमें उसने न जाने क्या कुछ लिखा था, जो कभी उसकी समझ में नहीं आया। उसे ह्यूबर्ट की इस बचकाना हरकत पर हँसी आयी थी, किन्तु भीतर-ही-भीतर प्रसन्नता भी हुई थी - उसकी उम्र अभी बीती नहीं है, अब भी वह दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। ह्यूबर्ट का पत्र पढ़कर उसे क्रोध नहीं आया, आयी थी केवल ममता। वह चाहती तो उसकी गलतफहमी को दूर करने में देर न लगती, किन्तु कोई शक्ति उसे रोके रहती है, उसके कारण अपने पर विश्वास रहता है, अपने सुख का भ्रम मानो ह्यूबर्ट की गलतफहमी से जुड़ा है....।

ह्यूबर्ट ही क्यों, वह क्या किसी को चाह सकेगी, उस अनुभूति के संग, जो अब नहीं रही, जो छाया-सी उस पर मँडराती रहती है, न स्वयं मिटती है, न उसे मुक्ति दे पाती है। उसे लगा, जैसे बादलों का झुरमुट फिर उसके मस्तिष्क पर धीरे-धीरे छाने लगा है, उसकी टाँगे फिर निर्जीव, शिथिल-सी हो गयी है।

वह झटके से उठ खड़ी हुई - "डाक्टर माफ करना, मुझे बहुत थकान-सी लग रही है....बिना वाक्य पूरा किये ही वह चली गयी।

कुछ देर तक टैरेस पर निस्तब्धता छायी रही। मोमबत्तियाँ बूझने लगी थी। डाक्टर मुकर्जी ने सिगार का नया कश लिया - "सब लड़कियाँ एक-जैसी होती है-बेवकूफ और सेंटीमेंटल।"

ह्यूबर्ट की उँगलियों का दबाव पियानो पर ढीला पड़ता गया - अन्तिम सुरों की झिझकी-सी गूँज कुछ क्षणों तक हवा में तिरती रही।

"डाक्टर, आपको मालूम है....मिस लतिका का व्यवहार पिछले कुछ अर्से से



अजीब-सा लगता है।" ह्यूबर्ट के स्वर में लापरवाही का भाव था। वह नहीं चाहता था कि डाक्टर को लतिका के प्रति उसकी भावनाओं का आभास-मात्र भी मिल सके। जिस कोमल अनुभूति को वह इतने समय से सँजोता आया है, डाक्टर उसे हँसी के एक ठहाके में उपहासास्पद बना देगा।

"क्या तुम नियति में विश्वास करते हो, ह्यूबर्ट?" डाक्टर ने कहा। ह्यूबर्ट दम रोके प्रतीक्षा करता रहा। वह जानता था कि कोई भी बात कहने से पहले डाक्टर को फिलासोफाइज करने की आदत थी। डाक्टर टैरेस के जंगले से सटकर खड़ा हो गया। फीकी-सी चाँदनी में चीड़ के पेड़ो की छायाएँ लॉन पर गिर रही थी। कभी-कभी कोई जुगनू अँधेरे में हरा प्रकाश छिड़कता हवा में गायब हो जाता था।

"मैं कभी-कभी सोचता हूँ, इन्सान जिन्दा किसलिए रहता है-क्या उसे कोई और बेहतर काम करने को नहीं मिला? हजारों मील अपने मुल्क से दूर मैं यहाँ पड़ा हूँ - यहाँ कौन मुझे जानता है...यही शायद मर भी जाऊँगा। ह्यूबर्ट, क्या तुमने कभी महसूस किया है कि एक अजनबी की हैसियत से परायी जमीन पर मर जाना काफ़ी खौफनाक बात है.....!"

ह्यूबर्ट विस्मित-सा डाक्टर को देखने लगा। उसने पहली बार डॉक्टर मुकर्जी के इस पहलू को देखा था। अपने सम्बन्ध में वह अक्सर चुप रहते थे।

"कोई पीछे नहीं है, यह बात मुझमें एक अजीब किस्म की बेफिक्री पैदा कर देती है। लेकिन कुछ लोगों की मौत अन्त तक पहेली बनी रहती है....शायद वे ज़िन्दगी से बहुत उम्मीद लगाते थे। उसे ट्रैजिक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आखिरी दम तक उन्हें मरने का एहसास नहीं होता...।"

"डाक्टर, आप किसका जिक्र कर रहे हैं?" ह्यूबर्ट ने परेशान होकर पूछा।

डाक्टर कुछ देर तक चुपचाप सिगार पीता रहा। फिर मुड़कर वह मोमबत्तियों की बुझती हुई लौ को देखने लगा।

"तुम्हें मालूम है, किसी समय लतिका बिला नागा क्लब जाया करती थी। गिरीश नेगी से उसका परिचय वहीं हुआ था। कश्मीर जाने से एक रात पहले उसने मुझे सबकुछ बता दिया था। मैं अब तक लतिका से उस मुलाकात के बारे में कुछ नहीं कह सका हूँ। किन्तु उस रात कौन जानता था कि वह वापिस नहीं लौटेगा। और अब....अब क्या फर्क पड़ता है। लेट द डेड। डाई...."

डाक्टर की सूखी सर्द हँसी में खोखली-सी शून्यता भरी थी।

"कौन गिरीश नेगी?"

"कुमाऊँ रेजीमेंट में कैप्टन था।"

"डाक्टर, क्या लतिका..." ह्यूबर्ट से आगे कुछ नहीं कहा गया। उसे याद आया वह पत्र, जो उसने लतिका को भेजा था...कितना अर्थहीन और उपहासास्पद, जैसे उसका एक-एक शब्द उसके दिल को कचोट रहा हो। उसने धीरे-से पियानो पर सिर टिका लिया। लतिका ने उसे क्यों नहीं बताया, क्या वह इसके योग्य भी नहीं था?

"लतिका... वह तो बच्ची है, पागल! मरनेवाले के संग खुद थोड़े ही मरा जाता है।"

कुछ देर चुप रहकर डाक्टर ने अपने प्रश्न को फिर दुहराया।

"लेकिन ह्यूबर्ट, क्या तुम नियति पर विश्वास करते हो?"

हवा के हल्के झोंके से मोमबत्तियाँ एक बार प्रज्ज्वलित होकर बुझ गयीं। टैरेस पर ह्यूबर्ट और डाक्टर अँधेरे में एक-दूसरे का चेहरा नहीं देख पा रहे थे, फिर भी वे एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। कान्वेंट स्कूल से कुछ दूर मैदानों में बहते पहाड़ी नाले का स्वर आ रहा था। अब बहुत देर बाद कुमाऊँ रेजीमेंट सेण्टर का बिगुल सुनायी दिया, तो ह्यूबर्ट हड़बड़ाकर खड़ा हो गया।

"अच्छा, चलता हूँ, डाक्टर, गुड नाइट।"

"गुड नाइट ह्यूबर्ट...मुझे माफ करना, मैं सिगार खत्म करके उठूँगा...."



सुबह बदली छायी थी। लतिका के खिड़की खोलते ही धुन्ध का गुब्बारा-सा भीतर घुस आया, जैसे रात-भर दीवार के सहारे सरदी में ठिठुरता हुआ वह भीतर आने की प्रतीक्षा कर रहा हो। स्कूल से ऊपर चैपल जानेवाली सड़क बादलों में छिप गयी थी, केवल चैपल का 'क्रास' धुन्ध के परदे पर एक-दूसरे को काटती हुई पेंसिल की रेखाओं-सा दिखायी दे जाता था।

लतिका ने खिड़की से आँखें हटायी, तो देखा कि करीमुद्दीन चाय की ट्रे लिये खड़ा है। करीमुद्दीन मिलिट्री में अर्दली रह चुका था, इसलिए ट्रे मेज पर रखकर 'अटेन्शन' की मुद्रा में खड़ा हो गया।

लतिका झटके से उठ बैठी। सुबह से आलस करके कितनी बार जागकर वह सो चुकी है। अपनी खिसियाहट मिटाने के लिए लतिका ने कहा - "बड़ी सर्दी है आज, बिस्तर छोड़ने को जी नहीं चाहता।"

"अजी मेम साहब, अभी क्या सरदी आयी है- बड़े दिनों में देखना कैसे दाँत कटकटाते हैं" - और करीमुद्दीन अपने हाथों को बगलों में डाले हुए इस तरह सिकुड़ गया जैसे उन दिनों की कल्पना मात्र से उसे जाड़ा लगना शुरू हो गया हो। गंजे सिर पर दोनों तरफ के उसके बाल खिजाब लगाने से कत्थई रंग के भूरे हो गये थे। बात चाहे किसी विषय पर हो रही हो, वह हमेशा खींचतान कर उसे ऐसे क्षेत्र में घसीट लाता था, जहाँ वह बेझिझक अपने विचारों को प्रकट कर सके।

"एक दफा तो यहाँ लगातार इतनी बर्फ गिरी थी कि भुवाली से लेकर डाक बँगले तक सारी सड़कें जाम हो गयी। इतनी बर्फ थी मेम साहब कि पेड़ों की टहनियाँ तक सिकुड़कर तनों से लिपट गयी थी - बिलकुल ऐसे," और करीमुद्दीन नीचे झुककर मुर्गा-सा बन गया।

"कब की बात है?" लतिका ने पूछा।

"अब यह तो जोड़-हिसाब करके ही पता चलेगा, मेम साहब...लेकिन इतना याद है कि उस वक्त अंग्रेज बहादूर यहीं थे। कण्टोनमेण्ट की इमारत पर कौमी

झण्डा नहीं लगा था। बड़े जबर थे ये अंग्रेज, दो घण्टों में ही सारी सड़के साफ करवा दीं। उन दिनों एक सीटी बजाते ही पचास घोड़ेवाले जमा हो जाते थे। तो अब सारे शेड खाली पड़े है। वे लोग अपनी खिदमत भी करवाना जानते थे, अब तो सब उजाड़ हो गया है" - करीमुद्दीन उदास भाव से बाहर देखने लगा।

आज यह पहली बार नहीं है जब लतिका करीमुद्दीन से उन दिनों की बातें सुन रही है जब अंग्रेज बहादुर ने इस स्थान को स्वर्ग बना रखा था।

"आप छुट्टियों में इस साल भी यही रहेंगी मेम साहब?"

"दिखता तो कुछ ऐसा ही है करीमुद्दीन-तुम्हें फिर तंग होना पड़ेगा।"

"क्या कहती हैं मेम साहब! आपके रहने से हमारा भी मन लग जाता है, वरना छुट्टियों में तो यहाँ कुत्ते लोटते हैं।"

"तुम जरा मिस्त्री से कह देना कि इस कमरे की छत की मरम्मत कर जाये। पिछले साल बर्फ का पानी दरारों से टपकता रहता था।" लतिका को याद आया कि पिछली सर्दियों में जब कभी बर्फ गिरती थी, तो उसे पानी से बचने के लिए रात-भर कमरे के कोने में सिमटकर सोना पड़ता था।

करीमुद्दीन चाय की ट्रे उठाता हुआ बोला - "ह्यूबर्ट साहब तो शायद कल ही चले जायें - कल रात उनकी तबीयत फिर खराब हो गयी। आधी रात के वक्त मुझे जगाने आये थे। कहते थे, छाती में तकलीफ है। उन्हें यह मौसम नहीं रास आता। कह रहे थे, लड़कियों की बस में वह भी कल ही चले जायेंगे।"

करीमुद्दीन दरवाजा बन्द करके चला गया। लतिका की इच्छा हुई कि वह ह्यूबर्ट के कमरे में जाकर उनकी तबीयत की पूछताछ कर आये। किन्तु फिर न जाने क्यों स्लीपर पैरों में टँगे रहे और वह खिड़की के बाहर बादलों को उड़ता हुआ देखती रही। ह्यूबर्ट का चेहरा जब उसे देखकर सहमा-सा दयनीय हो जाता है, तब लगता है कि वह अपनी मूक-निरीह याचना में उसे कोस रहा है - न वह उसकी गलतफहमी को दूर करने का प्रयत्न कर पाती है, न उसे अपनी



विवशता की सफाई देने का साहस होता हैं उसे लगता है कि इस जाले से बाहर निकलने के लिए वह धागे के जिस सिरे को पकड़ती है वह खुद एक गाँठ बनकर रह जाता है....।

बाहर बूँदाबाँदी होने लगी थी - कमरे की टिन की छत खट-खट बोलने लगी। लतिका पलँग से उठ खड़ी हुई। बिस्तर को तहाकर बिछाया। फिर पैरों में स्लीपरों को घसीटते हुए वह बड़े आईने तक आयी और उसके सामने स्टूल पर बैठकर बालों को खोलने लगी। किंतु कुछ देर तक कंघी बालों में ही उलझी रही और वह गुमसुम हो शीशे में अपना चेहरा ताकती रही। करीमुद्दीन को यह कहना याद ही नहीं रहा कि धीरे-धीरे आग जलाने की लकड़ियाँ जमा कर ले। इन दिनों सस्ते दामों पर सूखी लकड़ियाँ मिल जाती है। पिछले साल तो कमरा धुएँ से भर जाता था जिसके कारण कँपकँपाते जाड़े में भी उसे खिड़की खोलकर ही सोना पड़ता था।

आईने में लतिका ने अपना चेहरा देखा - वह मुस्करा रही थी। पिछले साल अपने कमरे की सीलन और ठण्ड से बचने के लिए कभी-कभी वह मिस वुड के खाली कमरे में चोरी-चुपके सोने चली जाया करती थी। मिस वुड का कमरा बिना आग के भी गर्म रहता था, उनके गदीले सोफे पर लेटते ही आँख लग जाती थी। कमरा छुट्टियों में खाली पड़ा रहता है, किन्तु मिस वुड से इतना नहीं होता कि दो महीनों के लिए उसके हवाले कर जायें। हर साल कमरे में ताला ठोंक जाती हैं वह तो पिछले साल़ गुसलखाने में भीतर की साँकल देना भूल गयी थीं, जिसे लतिका चोर दरवाजे के रूप में इस्तेमाल करती रही थी।

पहले साल अकेले में उसे बड़ा डर-सा लगता था। छुट्टियों में सारे स्कूल और होस्टल के कमरे सायँ-सायँ करने लगते है। डर के मारे उसे जब कभी नींद नहीं आती थी, तब वह करीमुद्दीन को रात में देर तक बातों में उलझाये रखती। बातों में जब खोयी-सी वह सो जाती, तब करीमुद्दीन चुपचाप लैम्प बुझाकर चला जाता। कभी-कभी बीमारी का बहाना करके वह डाक्टर को बुलवा

भेजती थी और बाद में बहुत जिद करके दूसरे कमरे में उनका बिस्तर लगवा देती।

लतिका के कंधे से बालों का गुच्छा निकाला और उसे बाहर फेंकने के लिए वह खिड़की के पास आ खड़ी हुई। बाहर छत की ढलान से बारिश के जल की मोटी-सी धार बराबर लॉन पर गिर रही थी। मेघाच्छन्न आकाश में सरकते हुए बादलों के पीछे पहाड़ियों के झुण्ड कभी उभर आते थे, कभी छिप जाते थे, मानो चलती हुई ट्रेन से कोई उन्हें देख रहा हो। लतिका ने खिड़की से सिर बाहर निकाल लिया - हवा के झोंके से उसकी आँखें झिप गयी। उसे जितने काम याद आते हैं, उतना ही आलस घना होता जाता है। बस की सीटें रिजर्व करवाने के लिए चपरासी को रुपये देने हैं जो सामान होस्टल की लड़कियाँ पीछे छोड़े जा रही है, उन्हें गोदाम में रखवाना होगा। कभी-कभी तो छोटी क्लास की लड़कियों के साथ पैकिंग करवाने के काम में भी उसे हाथ बंटाना पड़ता था।

वह इन कामों से ऊबती नहीं। धीरे-धीरे सब निपटते जाते हैं, कोई गलती इधर-उधर रह जाती है, सो बाद में सुधर जाती है- हर काम में किचकिच रहती है, परेशानी और दिक्कत होती है - किन्तु देर-सबेर इससे छुटकारा मिल ही जाता हैं किन्तु जब लड़कियों की आखिरी बस चली जाती है, तब मन उचाट-सा हो जाता है- खाली कॉरीडोर में घूमती हुई वे कभी इस कमरे में जाती है और कभी उसमें। वह नहीं जान पाती कि अपने से क्या करे-दिल कहीं भी नहीं टिक पाता, हमेशा भटका-भटका-सा रहता है।

इस सबके बावजूद जब कोई सहज भाव में पूछ बैठता है, "मिस लतिका, छुट्टियों में आप घर नहीं जा रही?" तब..... वह क्या कहे?

डिंग-डांग-डिंग.... स्पेशल सर्विस के लिए स्कूल चैपल के घंटे बजने लगे थे। लतिका ने अपना सिर खिड़की के भीतर कर लिया। उसने झटपट साड़ी उतारी और पेटीकोट में ही कन्धे पर तौलिया डाले गुसलखाने में घुस गयी।

लेफ्ट-राइट लेफ्ट.....लेफ्ट...



कण्टोनमेण्ट जानेवाली पक्की सड़क पर चार-चार की पंक्ति में कुमाऊँ रेजीमेंट के सिपाहियों की एक टुकड़ी मार्च कर रही थी। फौजी बूटों की भारी खुरदरी आवाजें स्कूल चैपल की दीवारों से टकराकर भीतर 'प्रेयर हाल' में गूँज रही थी।

"ब्लेसेड आर द मीक...." फादर एल्मण्ड एक-एक शब्द चबाते हुए खँखारते स्वर में 'सर्मन आफ द माउण्ट' पढ़ रहे थे। ईसा मसीह की मूर्ति के नीचे 'कैण्डलब्रियम' के दोनों ओर मोमबत्तियाँ जल रही थीं, जिनका प्रकाश आगे बैंचों पर बैठी हुई लड़कियों पर पड़ रहा था। पिछली लाइनों की बैंचे अँधेरे में डूबी हुई थीं, जहाँ लड़कियाँ प्रार्थना की मुद्रा में बैठी हुई सिर झुकाये एक-दूसरे से घुसर-पुसर कर रही थीं। मिस वुड स्कूल सीजन के सफलतापूर्वक समाप्त हो जाने पर विद्यार्थियों और स्टाफ सदस्यों को बधाई का भाषण दे चुकी थीं- और अब फादर के पीछे बैठी हुई अपने में ही कुछ बुड़बुड़ा रही थीं मानो धीरे-धीरे फादर को 'प्रौम्प्ट' कर रही हो।

'आमीन......' फादर एल्मण्ड ने बाइबल मेज पर रख दी और 'प्रेयर बुक' उठा ली। हॉल की खामोशी क्षण भर के लिए टूट गयी। लड़कियों ने खड़े होते हुए जान-बूझकर बैंचों को पीछे धकेला - बैंचे फर्श पर रगड़ खाकर सीटी बजाती हुई पीछे खिसक गयीं - हॉल के कोने से हंसी फूट पड़ी। मिस वुड का चेहरा तन गया, माथे पर भृकुटियाँ चढ़ गयीं। फिर अचानक निस्तब्धता छा गयी - हॉल के उस घुटे हुए धुँधलके में फादर का तीखा फटा हुआ स्वर सुनायी देने लगा - "जीजस सेड, आई एम द लाइट ऑफ द वर्ल्ड - ही दैट फालोएथ मी शैल नॉट वाक इन डार्कनेस, बट शैल हैव द लाइट ऑफ लाइफ....।"

डाक्टर मुखर्जी ने ऊब और उकताहट से भरी जमुहाई ली, "कब यह किस्सा खत्म होगा?" उसने इतने ऊँचे स्वर में लतिका से पूछा कि वह सकुचाकर दूसरी ओर देखने लगी। स्पेशल सर्विस के समय डाक्टर मुकर्जी के होंठों पर व्यंग्यात्मक मुस्कान खेलती रहती और वह धीरे-धीरे अपनी मूँछों को खींचता रहता।

फादर एल्मण्ड की वेश-भूषा देखकर लतिका के दिल में गुदगुदी-सी दौड़ गयी। जब वह छोटी थी, तो अक्सर यह बात सोचकर विस्मित हुआ करती थी कि क्या पादरी लोग सफेद चोगे के नीचे कुछ नहीं पहनते, अगर धोखे से वह ऊपर उठ जाये तो?

लेफ्ट...लेफ्ट...लेफ्ट... मार्च करते हुए फौजी बूट चैपल से दूर होते जा रहे थे-केवल उनकी गूँज हवा में शेष रह गयी थी।

'हिम नम्बर 117 –' फादर ने प्रार्थना-पुस्तक खोलते हुए कहा। हॉल में प्रत्येक लड़की ने डेस्क पर रखी हुई हिम-बुक खोल ली। पन्नों के उलटने की खड़खड़ाहट फिसलती हुई एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गयी।

आगे की बैंच से उठकर ह्यूबर्ट पियानो के सामने स्टूल पर बैठ गया। संगीत शिक्षक होने के कारण हर साल स्पेशल सर्विस के अवसर पर उसे 'कॉयर' के संग पियानो बजाना पड़ता था। ह्यूबर्ट ने अपने रूमाल से नाक साफ की। अपनी घबराहट छिपाने के लिए ह्यूबर्ट हमेशा ऐसा ही किया करता था। कनखियों से हॉल की ओर देखते हुए अपने काँपते हाथों से हिम-बुक खोली।

लीड काइण्डली लाइट....

पियानो के सुर दबे, झिझकते से मिलने लगे। घने बालों से ढँकी ह्यूबर्ट की लंबी, पीली अँगुलयाँ खुलने-सिमटने लगीं। 'कॉयर' में गानेवाली लड़कियों के स्वर एक-दूसरे से गुँथकर कोमल, स्निग्ध लहरों में बिंध गये।

लतिका को लगा, उसका जूड़ा ढीला पड़ गया है, मानो गरदन के नीचे झूल रहा है। मिस वुड की आँख बचा लतिका ने चुपचाप बालों में लगे क्लिपों को कसकर खींच दिया।

"बड़ा झक्की आदमी है...सुबह मैंने ह्यूबर्ट को यहाँ आने से मना किया था, फिर भी चला आया" - डाक्टर ने कहा।

लतिका को करीमुद्दीन की बात याद हो गयी। रात-भर ह्यूबर्ट को खाँसी



का दौरा पड़ा था... कल जाने के लिए कह रहे थे....

लतिका ने सिर टेढ़ा करके ह्यूबर्ट के चेहरे की एक झलक पाने की विफल चेष्टा की। इतने पीछे से कुछ भी देख पाना असंभव था; पियानो पर झुका हुआ केवल ह्यूबर्ट का सिर दिखायी देता था।

लीड काइण्डली लाइट...संगीत के सुर मानो एक ऊँची पहाड़ी पर चढ़कर हाँफती हुई साँसों को आकाश की अबाध शून्यता में बिखेरते हुए नीचे उतर रहे है। बारिश की मुलायम धूप चैपल के लम्बे-चौकोर शीशों पर झलमला रही है, जिसकी एक महीन चमकीली रेखा ईसा मसीह की प्रतिमा पर तिरछी होकर गिर रही है। मोमबत्तियों का धुआँ धूप में नीली-सी लकीर खींचता हुआ हवा में तिरने लगा है। पियानो के क्षणिक 'पोज' में लतिका को पत्तों का परिचित मर्मर कहीं दूर अनजानी दिशा से आता हुआ सुनायी दे जाता है। एक क्षण के लिए एक भ्रम हुआ कि चैपल का फीका-सा अँधेरा उस छोटे-से 'प्रेयर-हॉल' के चारों कोनों से सिमटता हुआ उसके आस-पास घिर आया है-मानो कोई उसकी आँखों पर पट्‌टी बाँधकर उसे यहाँ तक ले आया हो और अचानक उसकी आँखें खोल दी हों। उसे लगा कि जैसे मोमबत्तियों के धूमिल आलोक में कुछ भी ठोस, वास्तविक न रहा हो-चैपल की छत, दीवारें, डेस्क पर रखा हुआ डाक्टर का सुघड़-सुडौल हाथ - और पियानो के सुर अतीत की धुन्ध को भेदते हुए स्वयं उस धुन्ध का भाग बनते जा रहे हो....

एक पगली-सी स्मृति, एक उद्‌भ्रान्त भावना-चैपल के शीशों के परे पहाड़ी सूखी हवा, हवा में झुकी हुई वीपिंग विलोज की काँपती टहनियाँ, पैरों तले चीड़े के पत्तों की धीमी-सी चिर-परिचित खड़....खड़...। वहीं पर गिरीश एक हाथ में मिलिटरी का खाकी हैट लिये खड़ा है-चौड़े, उठे हुए, सबल कन्धे, अपना सिर वहाँ टिका दो, तो जैसे सिमटकर खो जायेगा... चार्ल्स बोयर, यह नाम उसने रखा था, वह झेंपकर हँसने लगा।

"तुम्हें आर्मी में किसने चुन लिया, मेजर बन गये हो, लेकिन लड़कियों से

भी गये बीते हो.... ज़रा-ज़रा-सी बात पर चेहरा लाल हो जाता है।" यह सब वह कहती नहीं, सिर्फ सोचती भर थी - सोचा था कभी कहूँगी, वह 'कभी' कभी नहीं आया....

बुरुस का लाल फूल
लाये हो
न
झूठे

खाकी कमीज के जिस जेब पर बैज चिपके थे, उसमें से मुसा हुआ बुरुस का फूल निकल आया।

छिः सारा मुरझा गया
अभी खिला कहाँ है?
(हाउ क्लन्जी)

उसके बालों में गिरीश का हाथ उलझ रहा है-फूल कहीं टिक नहीं पाता, फिर उसे क्लिप के नीचे फँसाकर उसने कहा-

देखो

वह मुड़ी और इससे पहले कि वह कुछ कह पाती, गिरीश ने अपना मिलिटरी का हैट धप से उसके सिर पर रख दिया। वह मन्त्रमुग्ध-सी वैसी ही खड़ी रही। उसके सिर पर गिरीश का हैट है-माथे पर छोटी-सी बिन्दी है। बिन्दी पर उड़ते हुए बाल है। गिरीश ने उस बिन्दी को अपने होंठों से छुआ है, उसने उसके नंगे सिर को अपने दोनों हाथों में समेट लिया है -

लतिका

गिरीश ने चिढ़ाते हुए कहा- मैन ईटर आफ कुमाऊँ- (उसका यह नाम गिरीश ने उसे चिढ़ाने के लिए रखा था)... वह हँसने लगी।



"लतिका.... सुनो...." गिरीश का स्वर कैसा हो गया था!

"ना, मैं कुछ भी नहीं सुन रही।"

"लतिका... मैं कुछ महीनों में वापिस लौट आऊँगा..."

"ना... मैं कुछ भी नहीं सुन रही..." किन्तु वह सुन रही है- वह नहीं जो गिरीश कह रहा है, किन्तु वह जो नहीं कहा जा रहा है, जो उसके बाद कभी नहीं कहा गया.....

लीड काइण्डली लाइट....

लड़कियों का स्वर पियानो के सुरों में डूबा हुआ गिर रहा है, उठ रहा है. .ह्यूबर्ट ने सिर मोड़कर लतिका का निमिष भर देखा-आँखें मूँदे ध्यानमग्ना प्रस्तर मूर्ति-सी वह स्थिर निश्चल खड़ी थी। क्या यह भाव उसके लिए है? क्या लतिका ने ऐसे क्षणों में उसे अपना साथी बनाया है? ह्यूबर्ट ने एक गहरी साँस ली और उस साँस में ढेर-सी थकान उमड़ आयी।

"देखो... मिस वुड कुर्सी पर बैठे-बैठे सो रही है" - डाक्टर होंठों में ही फुसफुसाया। यह डाक्टर का पुराना मजाक था कि मिस वुड प्रार्थना करने के बहाने आँखे मूँदे हुए नींद की झपकियाँ लेती है।

फादर एल्मण्ड ने कुर्सी पर फैले अपने गाउन को समेट लिया और प्रेयर बुक बंद करके मिस वुड के कानों में कुछ कहा। पियानो का स्वर क्रमशः मन्द पड़ने लगा, ह्यूबर्ट की अँगुलियाँ ढीली पड़ने लगी। सर्विस के समाप्त होने से पूर्व मिस वुड ने आर्डर पढ़कर सुनाया। बारिश होने की आशंका से आज के कार्यक्रम में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने पड़े थे। पिकनिक के लिए झूला देवी के मन्दिर जाना सम्भव नहीं हो सकेगा, इसलिए स्कूल से कुछ दूर 'मीडोज' में ही सब लड़कियाँ नाश्ते के बाद जमा होंगी। सब लड़कियों को दोपहर का 'लंच' होस्टल किचन से ही ले जाना होगा, केवल शाम की चाय 'मीडोज' में बनेगी।

पहाड़ों की बारिश का क्या भरोसा? कुछ देर पहले धुआँधार बादल गरज

रहे थे, सारा शहर पानी में भीगा ठिठुर रहा था- अब धूप में नहाता नीला आकाश धुन्ध की ओट से बाहर निकलता हुआ फैल रहा था। लतिका ने चैपल से बाहर आते हुए देखा-वीपिंग बिलोज की भीगी शाखाओं से धूप में चमकती हुई बारिश की बूँदे टपक रही थी... लड़कियाँ चैपल से बाहर निकलकर छोटे-छोटे गुच्छे बनाकर कॉरीडोर में जमा हो गयी हैं नाश्ते के लिए अभी पौन घण्टा पड़ा था और उनमें से अभी कोई भी लड़की होस्टल जाने के लिए इच्छुक नहीं थी। छुट्टियाँ अभी शुरू नहीं हुई थीं, किन्तु शायद इसीलिए वे इन चन्द बचे-खुचे क्षणों में अनुशासन के भीतर भी मुक्त होने का भरपुर आनन्द उठा लेना चाहती थीं।

मिस वुड को लड़कियों का यह गुल-गपाड़ा अखरा, किन्तु फादर एल्मण्ड के सामने वह उन्हें डाँट-फटकार नहीं सकी। अपनी झुँझलाहट दबाकर वह मुस्कराते हुए बोली- "कल सब चली जायेंगी, सारा स्कूल वीरान हो जायेगा।"

फादर एल्मण्ड का लम्बा ओजपूर्ण चेहरा चैपल की घुटी हुई गरमाई से लाल हो उठा था। कॉरीडोर के जंगले पर अपनी छड़ी लटकाकर वह बोले - "छुट्टियों में पीछे हॉस्टल में कौन रहेगा?"

"पिछले दो-तीन सालों से मिस लतिका ही रह रही है..."

"और डाक्टर मुकर्जी छुट्टियों में कहीं नहीं जाते?"

"डाक्टर तो सर्दी-गर्मी यहीं रहते हैं" - मिस वुड ने विस्मय से फादर की ओर देखा। वह समझ नहीं सकी कि फादर ने डाक्टर का प्रसंग क्यों छेड़ दिया है!

"डाक्टर मुकर्जी छुट्टियों में कहीं नहीं जाते?"

"दो महीने की छुट्टियों में बर्मा जाना काफी कठिन है, फादर!" - मिस वुड हँसने लगी।



"मिस वुड, पता नहीं आप क्या सोचती हैं। मुझे तो मिस लतिका का होस्टल में अकेले रहना कुछ समझ में नहीं आता।"

"लेकिन फादर," मिस वुड ने कहा, "यह तो कान्वेन्ट स्कूल का नियम है कि कोई भी टीचर छुट्टियों में अपने खर्चे पर होस्टल में रह सकते हैं।"

"मैं फिलहाल स्कूल के नियमों की बात नहीं कर रहा। मिस लतिका डाक्टर के संग यहाँ अकेली ही रह जायेंगी और सच पूछिए मिस वुड, डाक्टर के बारे में मेरी राय कुछ बहुत अच्छी नहीं है...."

"फादर, आप कैसी बात कर रहे हैं... मिस लतिका बच्चा थोड़े ही है.. ." मिस वुड को ऐसी आशा नहीं थी कि फादर एल्मण्ड अपने दिल में ऐसी दकियानूसी भावना को स्थान देंगे।

फादर एल्मण्ड कुछ हतप्रभ-से हो गये, बात पलटते हुए बोले- "मिस वुड, मेरा मतलब यह नहीं था। आप तो जानती हैं, मिस लतिका और उस मिलिटरी अफसर को लेकर एक अच्छा-खासा स्कैण्डल बन गया था, स्कूल की बदनामी होने में क्या देर लगती है।"

"वह बेचारा तो अब नहीं रहा। मैं उसे जानती थी फादर! ईश्वर उसकी आत्मा को शान्ति दे।"

मिस वुड ने धीरे-से अपनी दोनों बाँहों से क्रास किया।

फादर एल्मण्ड को मिस वुड की मुर्खता पर इतना अधिक क्षोभ हुआ कि उनसे आगे और कुछ नहीं बोला गया। डाक्टर मुकर्जी से उनकी कभी नहीं पटती थी, इसलिए मिस वुड की आँखों में वह डाक्टर को नीचा दिखाना चाहते थे। किन्तु मिस वुड लतिका का रोना ले बैठी। आगे बात बढ़ाना व्यर्थ था। उन्होंने छड़ी को जंगले से उठाया और ऊपर साफ खुले आकाश को देखते हुए बोले- "प्रोग्राम आपने यूँ ही बदला, मिस वुड, अब क्या बारिश होगी।"

ह्यूबर्ट जब चैपल से बाहर निकला तो उसकी आँखें चकाचौंध-सी हो गयी।

उसे लगा जैसे किसी ने अचानक ढेर-सी चमकीली उबलती हुई रोशनी मुट्ठी में भरकर उसकी आँखों में झोंक दी हो। पियानो के संगीत के सुर रुई के छुई-मुई रेशों की भाँति अब तक उसके मस्तिष्क की थकी-माँदी नसों पर फड़फड़ा रहे थे। वह काफी थक गया था। पियानो बजाने से उसके फेफड़ों पर हमेशा भारी दबाव पड़ता, दिल की धड़कन तेज हो जाती थी। उसे लगता था कि संगीत के एक नोट को दूसरे नोट में उतारने के प्रयत्न में वह एक अँधेरी खाई पार कर रहा है।

आज चैपल में मैंने जो महसूस किया, वह कितना रहस्यमय, कितना विचित्र था, ह्यूबर्ट ने सोचा। मुझे लगा, पियानो का हर नोट चिरन्तन खामोशी की अँधेरी खोह से निकलकर बाहर फैली नीली धुन्ध को काटता, तराशता हुआ एक भूला-सा अर्थ खींच लाता है। गिरता हुआ हर 'पोज' एक छोटी-सी मौत है, मानो घने छायादार वृक्षों की काँपती छायाओं में कोई पगडण्डी गुम हो गयी हो, एक छोटी-सी मौत जो आनेवाले सुरों को अपनी बची-खुची गूँजों की साँसे समर्पित कर जाती है.... जो मर जाती है, किन्तु मिट नहीं पाती, मिटती नहीं इसलिए मरकर भी जीवित है, दूसरे सुरों में लय हो जाती है....

"डाक्टर, क्या मृत्यु ऐसे ही आती है?" अगर मैं डाक्टर से पूछूँ तो वह हँसकर टाल देगा। मुझे लगता है, वह पिछले कुछ दिनों से कोई बात छिपा रहा है- उसकी हँसी में जो सहानुभूति का भाव होता है, वह मुझे अच्छा नहीं लगता। आज उसने मुझे स्पेशल सर्विस में आने से रोका था - कारण पूछने पर वह चुप रहा था। कौन-सी ऐसी बात है, जिसे मुझसे कहने में डाक्टर कतराता है। शायद मैं शक्की मिजाज होता जा रहा हूँ, और बात कुछ भी नहीं है।

ह्यूबर्ट ने देखा, लड़कियों की कतार स्कूल से होस्टल जानेवाली सड़क पर नीचे उतरती जा रही है। उजली धूप में उनके रंग-बिरंगे रिबन, हल्की आसमानी रंग की फ्रॉकें और सफेद पेटियाँ चमक रही है। सीनियर कैम्ब्रिज की कुछ लड़कियों ने चैपल की वाटिका के गुलाब के फूलों को तोड़कर अपने बालों में



लगा लिया हैं कन्टोनमेण्ट के तीन-चार सिपाही लड़कियों को देखते हुए अश्लील मजाक करते हुए हँस रहे हैं और कभी-कभी किसी लड़की की ओर ज़रा झुककर सीटी बजाने लगते हैं।

"हलो मि. ह्यूबर्ट," ह्यूबर्ट ने चौंककर पीछे देखा। लतिका एक मोटा-सा रजिस्टर बगल में दबाये खड़ी थी।

"आप अभी यहीं हैं?" ह्यूबर्ट की दृष्टि लतिका पर टिकी रही। वह क्रीम रंग की पूरी बाँहों की ऊनी जैकट पहने हुई थी। कुमाऊँनी लड़कियों की तरह लतिका का चेहरा गोल था, धूप की तपन से पका गेहुँआ रंग कहीं-कहीं हल्का-सा गुलाबी हो आया था, मानो बहुत धोने पर भी गुलाल के कुछ धब्बे इधर-उधर बिखरे रह गये हों।

"उन लड़कियों के नाम नोट करने थे, जो कल जा रही हैं... सो पीछे रुकना पड़ा। आप भी तो कल जा रहे हैं मि. ह्यूबर्ट?"

"अभी तक तो यही इरादा है। यहाँ रुककर भी क्या करूँगा। आप स्कूल की ओर जा रही हैं?"

"चलिए..."

पक्की सड़क पर लड़कियों की भीड़ जमा थी, इसलिए वे दोनों पोलो ग्राउण्ड का चक्कर काटती हुई पगडण्डी से नीचे उतरने लगे।

हवा तेज हो चली। चीड़ के पत्ते हर झोंके के संग टूट-टूटकर पगडण्डी पर ढेर लगाते जाते थे। ह्यूबर्ट रास्ता बनाने के लिए अपनी छड़ी से उन्हें बुहारकर दोनों ओर बिखेर देता था। लतिका पीछे खड़ी हुई देखती रहती थी। अल्मोड़ा की ओर से आते हुए छोटे-छोटे बादल रेशमी रूमालों से उड़ते हुए सूरज के मुँह पर लिपटे से जाते थे, फिर हवा में बह निकलते थे। इस खेल में धूप कभी मन्द, फीकी-सी पड़ जाती थी, कभी अपना उजला आँचल खोलकर समूचे शहर को अपने में समेट लेती थी।

लतिका तनिक आगे निकल गयी। ह्यूबर्ट की साँस चढ़ गयी थी और वह धीरे-धीरे हाँफता हुआ पीछे से आ रहा था। जब वे पोलोग्राउण्ड के पवेलियन को छोड़कर सिमिट्री के दायीं और मुडे, तो लतिका ह्यूबर्ट की प्रतीक्षा करने के लिए खड़ी हो गयी। उसे याद आया, छुट्टियों के दिनों में जब कभी कमरे में अकेले बैठे-बैठे उसका मन ऊब जाता था, तो वह अक्सर टहलते हुए सिमिट्री तक चली जाती थी। उससे सटी पहाड़ी पर चढ़कर वह बर्फ में ढँके देवदार वृक्षों को देखा करती थी। जिनकी झुकी हुई शाखों से रुई के गोलों-सी बर्फ नीचे गिरा करती थी; नीचे बाजार जानेवाली सड़क पर बच्चे स्लेज पर फिसला करते थे। वह खड़ी-खड़ी बर्फ में छिपी हुई उस सड़क का अनुमान लगाया करती थी जो फादर एल्मण्ड के घर से गुजरती हुई मिलिटरी अस्पताल और डाकघर से होकर चर्च की सीढ़ियों तक जाकर गुम हो जाती थी। जो मनोरंजन एक दुर्गम पहेली को सुलझाने में होता है, वही लतिका को बर्फ में खोये रास्तों को खोज निकालने में होता था।

"आप बहुत तेज चलती है, मिस लतिका" – थकान से ह्यूबर्ट का चेहरा कुम्हला गया था। माथे पर पसीने की बूँदे छलक आयी थी।

"कल रात आपकी तबियत क्या कुछ खराब हो गयी थी?"

"आपने कैसे जाना? क्या मैं अस्वस्थ दीख रहा हूँ?" ह्यूबर्ट के स्वर में हलकी-सी खीज का आभास था। सब लोग मेरी सेहत को लेकर क्यों बात शुरू करते हैं, उसने सोचा।

"नहीं, मुझे तो पता भी नहीं चलता, वह तो सुबह करीमुद्दीन ने बातों-ही-बातों में जिक्र छेड़ दिया था।" लतिका कुछ अप्रतिभ-सी हो आयी।

"कोई खास बात नहीं, वहीं पुराना दर्द शुरू हो गया था-अब बिल्कुल ठीक है।" अपने कथन की पुष्टि के लिए ह्यूबर्ट छाती सीधी करके तेज कदम बढ़ाने लगा।



"डाक्टर मुकर्जी को दिखलाया था?"

"वह सुबह आये थे। उनकी बात कुछ समझ में नहीं आती। हमेशा दो बातें एक-दूसरे से उल्टी कहते हैं। कहते थे कि इस बार मुझे छह-सात महीने की छुट्टी लेकर आराम करना चाहिए, लेकिन अगर मैं ठीक हूँ, तो भला इसकी क्या जरूरत है?"

ह्यूबर्ट के स्वर में व्यथा की छाया लतिका से छिपी न रह सकी। बात को टालते हुए उसने कहा – "आप तो नाहक चिन्ता करते हैं, मि. ह्यूबर्ट! आजकल मौसम बदल रहा है, अच्छे भले आदमी तक बीमार हो जाते हैं।"

ह्यूबर्ट का चेहरा प्रसन्नता से दमकने लगा। उसने लतिका को ध्यान से देखा। वह अपने दिल का संशय मिटाने के लिए निश्चिन्त हो जाना चाहता था कि कहीं लतिका उसे केवल दिलासा देने के लिए ही तो झूठ नहीं बोल रही।

"यही तो मैं सोच रहा था, मिस लतिका! डाक्टर की सलाह सुनकर मैं डर ही गया। भला छह महीने की छुट्टी लेकर मैं अकेला क्या करूँगा। स्कूल में तो बच्चों के संग मन लगा रहता है। सच पूछो तो दिल्ली में ये दो महीनों की छुट्टियाँ काटना भी दूभर हो जाता है...।"

"मि. ह्यूबर्ट....कल आप दिल्ली जा रहे हैं...?"

लतिका चलते-चलते हठात् ठिठक गयी। सामने पोलो-ग्राउण्ड फैला था, जिसके दूसरी ओर मिलिटरी की ट्रकें कण्टोनमेण्ट की ओर जा रही थी। ह्यूबर्ट को लगा, जैसे लतिका की आँखें अधमुँदी-सी खुली रह गयी है, मानो पलकों पर एक पुराना भूला-सा सपना सरक आया है।

"मि.ह्यूबर्ट....आप दिल्ली जा रहे हैं" – इस बार लतिका ने प्रश्न नहीं दुहराया उसके स्वर में केवल एक असीम दूरी का भाव घिर आया।

"बहुत अर्सा पहले मैं भी दिल्ली गयी थी, मि. ह्यूबर्ट! तब मैं बहुत छोटी

थी – न जाने कितने बरस बीत गये। हमारी मौसी का ब्याह वहीं हुआ था। बहुत-सी चीजें देखी थीं, लेकिन अब तो सबकुछ धुँधला-सा पड़ गया है। इतना याद है कि हम कुतुब पर चढ़े थे। सबसे ऊँची मंजिल से हमने नीचे झाँका था – न जाने कैसा लगा था। नीचे चलते हुए आदमी चाभी भरे हुए खिलौनों-से लगते थे। हमने ऊपर से उन पर मूँगफलियाँ फेंकी थी, लेकिन हम बहुत निराश हुए थे क्योंकि उनमें से किसी ने हमारी तरफ नहीं देखा। शायद माँ ने मुझे डाँटा था, और मैं सिर्फ नीचे झाँकते हुए डर गयी थी। सुना है, अब तो दिल्ली इतना बदल गया है कि पहचाना नहीं जाता....”

वे दोनों फिर चलने लगे। हवा का वेग ढीला पड़ने लगा। उड़ते हुए बादल अब सुस्ताने-से लगे थे, उनकी छायाएँ नन्दा देवी और पंचचूली की पहाड़ियों पर गिर रही थीं। स्कूल के पास पहुँचते-पहुँचते चीड़ के पेड़ पीछे छूट गये, कहीं-कहीं खुबानी के पेड़ों के आस-पास बुरुस के लाल फूल धूप में चमक जाते थे। स्कूल तक आने में उन्होंने पोलोग्राउण्ड का लम्बा चक्कर लगा लिया था।

“मिस लतिका, आप कहीं छुट्टियों में जाती क्यों नहीं-सरदियों में तो यहाँ सबकुछ वीरान हो जाता होगा?”

“अब मुझे यहाँ अच्छा लगता है,” लतिका ने कहा, “पहले साल अकेलापन कुछ अखरा था-अब आदी हो चुकी हूँ। क्रिसमस से एक रात पहले क्लब में डान्स होता है, लाटरी डाली जाती है और रात को देर तक नाच-गाना होता रहता है। नये साल के दिन कुमाऊँ रेजीमेण्ट की ओर से परेड-ग्राउण्ड में कार्नीवाल किया जाता है, बर्फ पर स्केटिंग होती है, रंग-बिरंगे गुब्बारों के नीचे फौजी बैण्ड बजता है, फौजी अफसर फैन्सी ड्रेस में भाग लेते हैं-हर साल ऐसा ही होता है, मि. ह्यूबर्ट। फिर कुछ दिनों बाद विण्टर स्पोर्ट्स के लिए अंग्रेज टूरिस्ट आते हैं। हर साल मैं उनसे परिचित होती हूँ, वापिस लौटते हुए वे हमेशा वादा करते हैं कि अगले साल भी आयेंगे, पर मैं जानती हूँ कि वे नहीं आयेंगे, वे भी जानते हैं कि वे नहीं आयेंगे, फिर भी हमारी दोस्ती में कोई अंतर नहीं



पड़ता। फिर....फिर कुछ दिनों बाद पहाड़ों पर बर्फ पिघलने लगती है, छुट्टियाँ खत्म होने लगती है, आप सब लोग अपने-अपने घरों से वापिस लौट आते हैं – और मि. ह्यूबर्ट पता भी नहीं चलता कि छुट्टियाँ कब शुरू हुई थी, कब खत्म हो गयी....”

लतिका ने देखा कि ह्यूबर्ट उसकी ओर आतंकित भयाकुल दृष्टि से देख रहा है। वह सिटपिटाकर चुप हो गयी। उसे लगा, मानो वह इतनी देर से पागल-सी अनर्गल प्रलाप कर रही हो।

“मुझे माफ करना मि. ह्यूबर्ट, कभी-कभी मैं बच्चों की तरह बातों में बहक जाती हूँ।”

“मिस लतिका....” ह्यूबर्ट ने धीरे-से कहा। वह चलते-चलते रुक गया था। लतिका ह्यूबर्ट के भारी स्वर से चौंक-सी गयी।

“क्या बात है मि. ह्यूबर्ट?”

“वह पत्र उसके लिए मैं लज्जित हूँ। उसे आप वापिस लौटा दें, समझ लें कि मैंने उसे कभी नहीं लिखा था।”

लतिका कुछ समझ न सकी, दिग्भ्रान्त-सी खड़ी हुई ह्यूबर्ट के पीले उद्विग्न चेहरे को देखती रही।

ह्यूबर्ट ने धीरे-से लतिका के कन्धे पर हाथ रख दिया।

“कल डाक्टर ने मुझे सबकुछ बता दिया। अगर मुझे पहले से मालूम होता तो....तो” ह्यूबर्ट हकलाने लगा।

“मि. ह्यूबर्ट...” किन्तु लतिका से आगे कुछ भी नहीं कहा गया। उसका चेहरा सफेद हो गया था।

दोनों चुपचाप कुछ देर तक सकूल के गेट के बाहर खड़े रहे।

मीडोज....पगडण्डियों, पत्तों, छायाओं से घिरा छोटा-सा द्वीप, मानो कोई

घोंसला दो हरी घाटियों के बीच आ दबा हो। भीतर घूसते ही पिकनिक के काले आग से झुलसे हुए पत्थर, अधजली टहनियाँ, बैठने के लिए बिछाये गये पुराने अखबारों के टुकड़े इधर-उधर बिखरे हुए दिखायी दे जाते हैं। अक्सर टूरिस्ट पिकनिक के लिए यहाँ आते हैं। मीडोज को बीच में काटता हुआ टेढ़ा-मेढ़ा बरसाती नाला बहता है, जो दूर से धूप में चमकता हुआ सफेद रिबन-सा दिखायी देता है।

यही पर काठ के तख्तों का बना हुआ टूटा-सा पुल है, जिस पर लड़कियाँ हिचकोले खाते हुए चल रही है।

"डाक्टर मुकर्जी, आप तो सारा जंगल जला देंगे" - मिस वुड ने अपनी ऊँची एड़ी के सैण्डल से जलती हुई दियासलाई को दबा डाला, जो डाक्टर ने सिगार सुलगाकर चीड़ के पत्तों के ढेर पर फेंक दी थी। वे नाले से कुछ दूर हटकर चीड़ के दो पेड़ों से गुँथी हुई छाया के नीचे बैठे थे। उनके सामने एक छोटा-सा रास्ता नीचे पहाड़ी गाँव की ओर जाता था, जहाँ पहाड़ की गोद में शकरपारों के खेत एक-दूसरे के नीचे बिछे हुए थे। दोपहर के सन्नाटे में भेड़-बकरियों के गलों में बँधी हुई धण्टियों का स्वर हवा में बहता हुआ सुनायी दे जाता था।

घास पर लेटे-लेटे डाक्टर सिगार पीते रहे।

"जंगल की आग कभी देखी है, मिस वुड....एक अलमस्त नशे की तरह धीरे-धीरे फैलती जाती है।"

"आपने कभी देखी है डाक्टर?" मिस वुड ने पूछा, "मुझे तो बड़ा डर लगता है।"

"बहुत साल पहले शहरों को जलते हुए देखा था।" डाक्टर लेटे हुए आकाश की ओर ताक रहे थे। "एक-एक मकान" ताश के पत्तों की तरह गिरता जाता। दुर्भाग्यवश ऐसे अवसर देखने में बहुत कम आते हैं।



"आपने कहाँ देखा, डाक्टर?"

"लड़ाई के दिनों में अपने शहर रंगून को जलते हुए देखा था।"

मिस वुड की आत्मा को ठेस लगी, किन्तु फिर भी उनकी उत्सुकता शान्त नहीं हुई।

"आपका घर-क्या वह भी जल गया था?"

डाक्टर कुछ देर तक चुपचाप लेटा रहा।

"हम उसे खाली छोड़कर चले आये थे - मालूम नहीं बाद में क्या हुआ।" अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी कहने में डाक्टर को कठिनाई महसूस होती है।

"डाक्टर, क्या आप कभी वापिस बर्मा जाने की बात नहीं सोचते?" डाक्टर ने अँगड़ाई ली और करवट बदलकर औंधे मुँह लेट गये। उनकी आँखें मुँद गयी और माथे पर बालों की लटें झूल आयीं।

"सोचने से क्या होता है मिस वुड... जब बर्मा में था, तब क्या कभी सोचा था कि यहाँ आकर उम्र काटनी होगी?"

"लेकिन डाक्टर, कुछ भी कह लो, अपने देश का सुख कहीं और नहीं मिलता। यहाँ तुम चाहे कितने वर्ष रह लो, अपने को हमेशा अजनबी ही पाओगे।"

डाक्टर ने सिगार के धुएँ को धीरे-धीरे हवा में छोड़ दिया- "दरअसल अजनबी तो मैं वहाँ भी समझा जाऊँगा, मिस वुड। इतने वर्षों बाद मुझे कौन पहचानेगा! इस उम्र में नये सिरे से रिश्ते जोड़ना काफी सिरदर्द का काम है.. .. कम-से-कम मेरे बस की बात नहीं है।"

"लेकिन डाक्टर, आप कब तक इस पहाड़ी कस्बे में पड़े रहेंगे - इसी देश में रहना है तो किसी बड़े शहर में प्रैक्टिस शुरू कीजिए।"

"प्रेक्टिस बढ़ाने के लिए कहाँ-कहाँ भटकता फिरूँगा, मिस वुड। जहाँ रहो, वहीं मरीज मिल जाते हैं। यहाँ आया था कुछ दिनों के लिए-फिर मुद्दत हो गयी और टिका रहा। जब कभी जी ऊबेगा, कहीं चला जाऊँगा। जड़ें कहीं नहीं ज़मती, तो पीछे भी कुछ नहीं छूट जाता। मुझे अपने बारे में कोई गलतफहमी नहीं है मिस वुड, मैं सुखी हूँ।"

मिस वुड ने डाक्टर की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। दिल में वह हमेशा डाक्टर को उच्छृंखल, लापरवाह और सनकी समझती रही है, किन्तु डाक्टर के चरित्र में उनका विश्वास है- न जाने क्यों, क्योंकि डाक्टर ने जाने-अनजाने में उसका कोई प्रमाण दिया हो, यह उन्हें याद नहीं पड़ता।

मिस वुड ने एक ठण्डी साँस भरी। वह हमेशा यह सोचती थी कि यदि डाक्टर इतना आलसी और लापरवाह न होता, तो अपनी योग्यता के बल पर काफी चमक सकता था। इसलिए उन्हें डाक्टर पर क्रोध भी आता था और दुख भी होता था।

मिस वुड ने अपने बैग से ऊन का गोला और सलाइयाँ निकालीं, फिर उसके नीचे से अखबार में लिपटा हुआ चौड़ा कॉफी का डिब्बा उठाया, जिसमें अण्डों की सैण्डविचें और हैम्बर्गर दबे हुए थे। थर्मस से प्यालों में कॉफी उडेलते हुए मिस वुड ने कहा - "डाक्टर, कॉफी ठण्डी हो रही है..."

डाक्टर लेटे-लेटे बुड़बुड़ाया। मिस वुड ने नीचे झुककर देखा, वह कोहनी पर सिर टिकाये सो रहा था। ऊपर का होंठ जरा-सा फैलकर मुड़ गया था, मानो किसी से मजाक करने से पहले मुस्करा रहा हो।

उसकी अँगुलियों में दबा हुआ सिगार नीचे झुका हुआ लटक रहा था।

"मेरी, मेरी, वाट डू यू वाण्ट, वाट डू यू वाण्ट...." दूसरे स्टैण्डर्ड में पढ़नेवाली मेरी ने अपनी चंचल, चपल आँखें ऊपर उठायीं-लड़कियों का दायरा उसे घेरे हुए कभी पास आता था, कभी दूर खिंचता चला जाता था।



"आई वाण्ट.... आई वाण्ट ब्लू...." दोनों हाथों को हवा में घुमाते हुए मेरी चिल्लायी। दायरा पानी की तरह टूट गया। सब लड़कियाँ एक-दूसरे पर गिरती-पड़ती किसी नीली वस्तु को छूने के लिए भाग-दौड़ करने लगीं।

लंच समाप्त हो चुका था। लड़कियों के छोटे-छोटे दल मीडोज में बिखर गये थे। ऊँची क्लास की कुछ लड़कियाँ चाय का पानी गर्म करने के लिए पेड़ों पर चढ़कर सूखी टहनियाँ तोड़ रही थीं।

दोपहर की उस घड़ी में मीडोज अलसाया-ऊँघता-सा जान पड़ता था। हवा का कोई भूला-भटका झोंका...चीड़ के पत्ते खड़खड़ा उठते थे। कभी कोई पक्षी अपनी सुस्ती मिटाने झाड़ियों से उड़कर नाले के किनारे बैठ जाता था, पानी में सिर डुबोता था, फिर ऊबकर हवा में दो-चार निरुद्देश्य चक्कर काटकर दुबारा झाड़ियों में दुबक जाता था।

किन्तु जंगल की खामोशी शायद कभी चुप नहीं रहती। गहरी नींद में डूबी सपनों-सी कुछ आवाजें नीरवता के हल्के झीने परदे पर सलवटें बिछा जाती है. .. मूक लहरों-सी हवा में तिरती है....मानो कोई दबे पाँव झाँककर अदृश्य संकेत कर जाता है- "देखो मैं यहाँ हूँ...."

लतिका ने जूली के 'बाब हेयर' को सहलाते हुए कहा, "तुम्हें कल रात बुलाया था।"

"मैडम, मैं गयी थी - आप अपने कमरे में नहीं थीं।" लतिका को याद आया कि रात वह डाक्टर के कमरे के टैरेस पर देर तक बैठी रही थी-और भीतर ह्यूबर्ट पियानो पर शोपां का नौक्टर्न बजा रहा था।

"जूली, तुमसे कुछ पूछना था।" उसे लगा, वह जूली की आँखों से अपने को बचा रही है।

जूली ने अपना चेहरा ऊपर उठाया। उसकी भूरी आँखों से कौतूहल झाँक रहा था।

"तुम आफिसर्स मेस में किसी को जानती हो?"

जूली ने अनिश्चित भाव से सिर हिलाया। लतिका कुछ देर तक जूली को अपलक घूरती रही।

"जूली, मुझे विश्वास है, तुम झूठ नहीं बोलोगी।" कुछ क्षण पहले जूली की आँखों में जो कौतूहल था, वह भय से परिणत होने लगा।

लतिका ने अपनी जैकेट की जेब से एक नीला लिफाफा निकालकर जूली की गोद में फेंक दिया।

"यह किसकी चिट्ठी है?"

जूली ने लिफाफा उठाने के लिए हाथ बढ़ाया, किन्तु फिर एक क्षण के लिए उसका हाथ काँपकर ठिठक गया-लिफाफे पर उसका नाम और होस्टल का पता लिखा हुआ था।

"थैंक यू मैडम, मेरे भाई का पत्र है, वह झाँसी में रहते हैं।" जूली ने घबराहट मे लिफाफे को अपने स्कर्ट की तहों में छिपा लिया।

"जूली, ज़रा मुझे लिफाफा दिखलाओ।" लतिका का स्वर तीखा, कर्कश-सा हो आया।

जूली ने अनमने भाव से लतिका को पत्र दे दिया।

"तुम्हारे भाई झाँसी में रहते हैं?"

जूली इस बार कुछ नहीं बोली। उसकी उद्भ्रान्त उखड़ी-सी आँखे लतिका को देखती रही।

"यह क्या है?"

जूली का चेहरा सफेद, फक पड़ गया। लिफाफे पर कुमाऊँ रेजीमेण्टल सेण्टर की मुहर उसकी ओर घूर रही थी।

"कौन है यह..." लतिका ने पूछा। उसने पहले भी होस्टल में उड़ती हुई



अफवाह सुनी थी कि जूली को क्लब में किसी मिलिटरी अफसर के संग देखा गया था, किन्तु ऐसी अफवाहें अक्सर उड़ती रहती थीं, और उसने उस पर विश्वास नहीं किया था।

"जूली, तुम अभी बहुत छोटी हो...." जूली के होंठ काँपे-उसकी आँखों में निरीह याचना का भाव घिर आया।

"अच्छा अभी जाओ... तुमसे छुट्टियों के बाद बातें करूँगी।"

जूली ने ललचाई दृष्टि से लिफाफे को देखा, कुछ बोलने का उद्यत हुई, फिर बिना कुछ कहे चुपचाप वापिस लौट गयी।

लतिका देर तक जूली को देखती रही, जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गयी। क्या मैं किसी खूँसट बुढ़िया से कम हूँ? अपने अभाव का बदला क्या मैं दूसरों से ले रही हूँ?

शायद....कौन जाने... शायद जूली का यह प्रथम परिचय हो, उस अनुभूति से, जिसे कोई भी लड़की बड़े चाव से सँजोकर, सँभालकर अपने में छिपाये रहती है, एक अनिर्वचनीय सुख, जो पीड़ा लिये है, पीड़ा और सुख को डुबोती हुई उमड़ते ज्वर की खुमारी....जो दोनों को अपने में समो लेती है एक दर्द, जो आनन्द से उपजा है और पीड़ा देता है....

यहीं इसी देवदार के नीचे उसे भी यही लगा था, जब गिरीश ने पूछा था-"तुम चुप क्यों हो?" वह आँखें मूँदे सोच रही थी-सोच कहाँ रही थी, जी रही थी, उस क्षण को जो भय और विस्मय के बीच भिंचा था-बहका-सा पागल क्षण। वह अभी पीछे मुड़ेगी तो गिरीश की 'नर्वस' मुस्कराहट दिखायी दे जायेगी, उस दिन से आज दोपहर तक का अतीत एक दुःस्वप्न की मानिन्द टूट जाएगा। वही देवदार है, जिस पर उसने अपने बालों के क्लिप से गिरीश का नाम लिखा था। पेड़ की छाल उतरती नहीं थी, क्लिप टूट-टूट जाता था, तब गिरीश ने अपने नाम के नीचे उसका नाम लिखा था। जब कभी कोई अक्षर बिगड़कर ढेढ़ा-मेढ़ा

हो जाता था तब वह हँसती थी, और गिरीश का काँपता हाथ और भी काँप जाता था...

लतिका को लगा कि जो वह याद करती है, वही भूलना भी चाहती है, लेकिन जब सचमुच भूलने लगती है, तब उसे भय लगता है कि जैसे कोई उसकी किसी चीज को उसके हाथों से छीने लिये जा रहा है, ऐसा कुछ जो सदा के लिए खो जायेगा। बचपन में जब कभी वह अपने किसी खिलौने को खो देती थी, तो वह गुमसुम-सी होकर सोचा करती थी, कहाँ रख दिया मैंने। जब बहुत दौड़-धूप करने पर ख़िलौना मिल जाता, तो वह बहाना करती कि अभी उसे खोज ही रही है, कि वह अभी मिला नहीं है। जिस स्थान पर खिलौना रखा होता, जान-बूझकर उसे छोड़कर घर के दूसरे कोने में उसे खोजने का उपक्रम करती। तब खोई हुई चीज याद रहती, इसलिए भूलने का भय नहीं रहता था....

आज वह उस बचपन के खेल का बहाना क्यों नहीं कर पाती? 'बहाना'. ...शायद करती है, उसे याद करने का बहाना, जो भूलता जा रहा है....दिन, महीने बीत जाते हैं, और वह उलझी रहती है, अनजाने में गिरीश का चेहरा धुँधला पड़ता जाता है, याद वह करती है, किन्तु जैसे किसी पुरानी तसवीर के धूल भरे शीशे को साफ कर रही हो। अब वैसा दर्द नहीं होता, सिर्फ उसको याद करती है, जो पहले कभी होता था-तब उसे अपने पर ग्लानि होती है। वह फिर जान-बूझकर उस घाव को कुरेदती है, जो भरता जा रहा है, खुद-ब-खुद उसकी कोशिशों के बावजूद भरता जा रहा है...

देवदार पर खुदे हुए अधमिटे नाम लतिका की ओर निस्तब्ध निरीह भाव से निहार रहे थे। मीडोज के घने सन्नाटे में नाले पार से खेलती हुई लड़कियों की आवाजें गूँज जाती थीं....

वाट डू यू वाण्ट? वाट डू यू वाण्ट?



तितलियाँ, झींगुर, जुगनू.... मीडोज पर उतरती हुई साँझ की छायाओं में पता नहीं चलता, कौन आवाज किसकी है? दोपहर के समय जिन आवाजों को अलग-अलग पहचाना जा सकता था, अब वे एकस्वरता की अविरल धारा में घुल गयी थी। घास से अपने पैरों को पोंछता हुआ कोई रेंग रहा हैं झाड़ियों के झुरमुट से परों को फड़फड़ाता हुआ झपटकर कोई ऊपर से उड़ जाता है... किन्तु ऊपर देखो तो कहीं कुछ भी नहीं है। मीडोज के झरने का गड़गड़ाता स्वर. ...जैसे अँधेरी सुरंग में झपाटे से ट्रेन गुजर गयी हो, और देर तक उसमें सीटियों और पहियों की चीत्कार गूँजती रही हो...

पिकनिक कुछ देर तक और चलती, किन्तु बादलों की तहें एक-दूसरे पर चढ़ती जा रही थी। पिकनिक का सामान बटोरा जाने लगा। मीडोज के चारों ओर बिखरी हुई लड़कियाँ मिस वुड के इर्द-गिर्द जमा होने लगी। अपने संग वे अजीबोगरीब चीजें बटोर लायी थीं। कोई किसी पक्षी के टूटे पंख को बालों में लगाये हुए थी, किसी ने पेड़ की टहनी को चाकू से छीलकर छोटी-सी बेंत बना ली थी। ऊँची क्लास की कुछ लड़कियों ने अपने-अपने रूमालों में नाले से पकड़ी हुई छोटी-छोटी बालिश्त भर की मछलियों को दबा रखा था जिन्हें मिस वुड से छिपकर वे एक-दूसरे को दिखा रही थीं।

मिस वुड लड़कियों की टोली के संग आगे निकल गयीं। मीडोज से पक्की सड़क तक तीन-चार फर्लांग की चढ़ाई थी। लतिका हाँफने लगी। डाक्टर मुकर्जी सबसे पीछे आ रहे थे। लतिका के पास पहुँचकर वह ठिठक गये। डाक्टर ने दोनों घुटनों को जमीन पर टेकते हुए सिर झुकाकर एलिजाबेथयुगीन अंग्रेजी में कहा - "मैडम, आप इतनी परेशान क्यों नजर आ रही हैं...."

और डाक्टर की नाटकीय मुद्रा को देखकर लतिका के होंठों पर एक थकी-सी ढीली-ढीली मुस्कराहट बिखर गयी।

"प्यास के मारे गला सूख रहा है... और यह चढ़ाई है कि खत्म होने में नहीं आती।"

डाक्टर ने अपने कन्धे पर लटकते हुए थर्मस को उतारकर लतिका के हाथों में देते हुए कहा - "थोड़ी-सी कॉफ़ी बची है, शायद कुछ मदद कर सके।"

"पिकनिक में तुम कहाँ रह गये डाक्टर, कहीं दिखायी नहीं दिये?"

"दोपहर भर सोता रहा-मिस वुड के संग। मेरा मतलब है, मिस वुड पास बैठी थी।"

"मुझे लगता है, मिस वुड मुझसे मुहब्बत करती है।" कोई भी मजाक करते समय डाक्टर अपनी मूँछों के कोनों को चबाने लगता है।

"क्या कहती थीं?" लतिका ने थर्मस से कॉफी को मुँह में उँडेल लिया।

"शायद कुछ कहती, लेकिन बदकिस्मती से बीच में ही मुझे नींद आ गयी। मेरी जिन्दगी के कुछ खूबसूरत प्रेम-प्रसंग कम्बख्त इस नींद के कारण अधूरे रह गये हैं।"

और इस दौरान में जब दोनों बातें कर रहे थे, उनके पीछे मीडोज और मोटर रोड के संग चढ़ती हुई चीड़ और बाँज के वृक्षों की कतारें साँझ के घिरते अँधेरे में डूबने लगी, मानो प्रार्थना करते हुए उन्होंने चुपचाप अपने सिर नीचे झुका लिये हों। इन्हीं पेड़ों के ऊपर बादलों में गिरजे का क्रास कहीं उलझा पड़ा था। उसके नीचे पहाड़ों की ढलान पर बिछे हुए खेत भागती हुई गिलहरियों से लग रहे थे, जो मानो किसी की दोह में स्तब्ध ठिठक गयी हों।

"डाक्टर, मि. ह्यूबर्ट पिकनिक पर नहीं आये?"

डाक्टर मुकर्जी टार्च जलाकर लतिका के आगे-आगे चल रहे थे।

"मैंने उन्हें मना कर दिया था।"

"किसलिए?"

अँधेरे में पैरों के नीचे दबे हुए पत्तों की चरमराहट के अतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं देता था। डॉक्टर मुकर्जी ने धीरे-से खाँसा।



"पिछले कुछ दिनों से मुझे संदेह होता जा रहा है कि ह्यूबर्ट की छाती का दर्द शायद मामूली दर्द नही है।" डाक्टर थोड़ा-सा हँसा, जैसे उसे अपनी यह गम्भीरता अरुचिकर लग रही हो।

डाक्टर ने प्रतीक्षा की, शायद लतिका कुछ कहेगी। किन्तु लतिका चुपचाप उसके पीछे चल रही थी।

"यह मेरा महज शक है, शायद मैं बिल्कुल गलत होऊँ, किन्तु यह बेहतर होगा कि वह अपने एक फेफड़े का एक्सरे करा लें-इससे कम-से-कम कोई भ्रम तो नहीं रहेगा।"

"आपने मि. ह्यूबर्ट से इसके बारे में कुछ कहा है?"

"अभी तक कुछ नहीं कहा। ह्यूबर्ट जरा-सी बात पर चिन्तित हो उठता है, इसलिए कभी साहस नहीं हो पाता...."

डॉक्टर को लगा, उसके पीछे आते हुए लतिका के पैरों का स्वर सहसा बन्द हो गया है। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा, लतिका बीच सड़क पर अँधेरे में छाया-सी चुपचाप निश्चल खड़ी है।

"डाक्टर..." लतिका का स्वर भर्राया हुआ था।

"क्या बात है मिस लतिका...आप रुक क्यों गयी?"

"डाक्टर-क्या मि. ह्यूबर्ट..."

डाक्टर ने अपनी टार्च की मद्धिम रोशनी लतिका पर उठा दी...उसने देखा लतिका का चेहरा एकदम पीला पड़ गया है और वह रह-रहकर पत्ते-सी काँप जाती है।

"मिस लतिका, क्या बात है, आप तो बहुत डरी-सी जान पड़ती है?"

"कुछ नहीं डाक्टर....मुझे....मुझे.... कुछ याद आ गया था..."

वे दोनों फिर चलने लगे। कुछ दूर जाने पर उनकी आँखें ऊपर उठ गयीं।

पक्षियों का एक बेड़ा धूमिल आकाश में त्रिकोण बनाता हुआ पहाड़ों के पीछे से उनकी ओर आ रहा था। लतिका और डाक्टर सिर उठाकर इन पक्षियों को देखते रहे। लतिका को याद आया, हर साल सर्दी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की ओर उड़ते हैं, कुछ दिनों के लिए बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा करते हैं, प्रतीक्षा करते हैं बर्फ के दिनों की, जब वे नीचे अजनबी, अनजाने देशों में उड़ जायेंगे.....

क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं? वह, डाक्टर मुकर्जी, मि. ह्यूबर्ट -लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जायेंगे।

किन्तु उसका कोई उत्तर नहीं मिला-उस अँधेरे में मीडोज के झरने के भुतैले स्वर और चीड़ के पत्तों की सरसराहट के अतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं देता था।

लतिका हड़बड़ाकर चौक गयी। अपनी छड़ी पर झुका हुआ डाक्टर धीरे-धीरे सीटी बजा रहा था।

"मिस लतिका, जल्दी कीजिए, बारिश शुरू होनेवाली है।"

होस्टल पहुँचते-पहुँचते बिजली चमकने लगी थी। किन्तु उस रात बारिश देर तक नहीं हुई। बादल बरसने भी नहीं पाते थे कि हवा के थपेड़ों से धकेल दिये जाते थे। दूसरे दिन तड़के ही बस पकड़नी थी, इसलिए डिनर के बाद लड़कियाँ सोने के लिए अपने-अपने कमरों में चली गयी थीं।

जब लतिका अपने कमरे में गयी, तो उस समय कुमाऊँ रेजीमेण्ट सेण्टर का बिगुल बज रहा था। उसके कमरे में करीमुद्दीन कोई पहाड़ी धुन गुनगुनाता हुआ लैम्प में गैस पम्प कर रहा था। लतिका उन्हीं कपड़ों में, तकिये को दुहरा करके लेट गयी। करीमुद्दीन ने उड़ती हुई निगाह से लतिका को देखा, फिर अपने काम में जुट गया।

"पिकनिक कैसी रही मेम साहब?"



"तुम क्यों नहीं आये, सब लड़कियाँ तुम्हें पूछ रही थीं?" लतिका को लगा, दिन-भर की थकान धीरे-धीरे उसके शरीर की पसलियों पर चिपटती जा रही है। अनायास उसकी आँखें नींद के बोझ से झपकने लगीं।

"मैं चला आता तो ह्यूबर्ट साहब की तीमारदारी कौन करता। दिनभर उनके बिस्तर से सटा हुआ बैठा रहा....और अब वह गायब हो गये हैं।"

करीमुद्दीन ने कन्धे पर लटकते हुए मैचे-कुचैले तौलिये को उतारा और लैम्प के शीशों की गर्द पोंछने लगा।

लतिका की अधमुँदी आँखें खुल गयी। "क्या ह्यूबर्ट साहब अपने कमरे में नहीं हैं?"

"खुदा जाने, इस हालत में कहाँ भटक रहे हैं। पानी गर्म करने कुछ देर के लिए बाहर गया था, वापिस आने पर देखता हूँ कि कमरा खाली पड़ा है।"

करीमुद्दीन बड़बड़ाता हुआ बाहर चला गया। लतिका ने लेटे-लेटे पलँग के नीचे चप्पलों को पैरों से उतार दिया।

ह्यूबर्ट इतनी रात कहाँ गये? किन्तु लतिका की आँखें फिर झपक गयीं। दिन-भर की थकान ने सब परेशानियों, प्रश्नों पर कुंजी लगा दी थी; मानो दिन-भर आँखमिचौनी खेलते हुए उसने अपने कमरे में 'दय्या' को छू लिया था। अब वह सुरक्षित थी, कमरे की चहारदीवारी के भीतर उसे कोई नहीं पकड़ सकता। दिन के उजाले में वह गवाह थी, मुजरिम थी, हर चीज का उससे तकाजा था, अब इस अकेलेपन में कोई गिला नहीं, उलाहना नहीं, सब खींचातानी खत्म हो गयी है, जो अपना है, वह बिल्कुल अपना-सा हो गया है, जो अपना नहीं है, उसका दुख नहीं, अपनाने की फुरसत नहीं.....

लतिका ने दीवार की ओर मुँह घुमा लिया। लैम्प के फीके आलोक में हवा में काँपते परदों की छायाएँ हिल रही थी। बिजली कड़कने से खिड़कियों के शीशे-चमक-चमक जाते थे, दरवाजे चटखने लगते थे, जैसे कोई बाहर से

धीमे-धीमे खटखटा रहा हो। कॉरीडोर से अपने-अपने कमरों में जाती हुई लड़कियों की हँसी, बातों के कुछ शब्द – फिर सबकुछ शान्त हो गया, किन्तु फिर भी देर तक कच्ची नींद में वह लैम्प का धीमा-सा 'सी-सी' स्वर सुनती रही। कब वह स्वर भी मौन का भाग बनकर मूक हो गया, उसे पता न चला।

कुछ देर बाद उसको लगा, सीढ़ियों से कुछ दबी आवाजें ऊपर आ रही है, बीच-बीच में कोई चिल्ला उठता है, और फिर सहसा आवाजें धीमी पड़ जाती हैं।

"मिस लतिका, जरा अपना लैम्प ले आइये" – कॉरिडोर के जीने से डाक्टर मुकर्जी की आवाज आयी थी।

कॉरीडोर में अँधेरा था। वह तीन-चार सीढ़ियाँ नीचे उतरी, लैम्प नीचे किया। सीढ़ियों से सटे जंगले पर ह्यूबर्ट अपना सिर रख दिया था, उसकी एक बाँह जंगले के नीचे लटक रही थी और दूसरी डाक्टर के कन्धे पर झूल रही थी, जिसे डाक्टर ने अपने हाथों में जकड़ रखा था।

"मिस लतिका, लैम्प ज़रा और नीचे झुका दीजिए....ह्यूबर्ट...ह्यूबर्ट..." डाक्टर ने ह्यूबर्ट को सहारा देकर ऊपर खींचा। ह्यूबर्ट ने अपना चेहरा ऊपर किया। व्हिस्की की तेज बू का झोंका लतिका के सारे शरीर को झिंझोड़ गया। ह्यूबर्ट की आँखों में सुर्ख डोरे खिंच आये थे, कमीज का कालर उलटा हो गया था और टाई की गाँठ ढीली होकर नीचे खिसक आयी थी। लतिका ने काँपते हाथों से लैम्प सीढ़ियों पर रख दिया और आप दीवार के सहारे खड़ी हो गयी। उसका सिर चकराने लगा था।

"इन ए बैक लेन ऑफ द सिटी, देयर इज ए गर्ल हू लव्ज मी...." ह्यूबर्ट हिचकियों के बीच गुनगुना उठता था।

"ह्यूबर्ट प्लीज....प्लीज," डाक्टर ने ह्यूबर्ट के लड़खड़ाते शरीर को अपनी मजबूत गिरफ्त में ले लिया।



"मिस लतिका, आप लैम्प लेकर आगे चलिए..." लतिका ने लैम्प उठाया। दीवार पर उन तीनों की छायाएँ डगमगाने लगी।

"इन ए बैक लेन ऑफ द सिटी, देयर इज ए गर्ल हू लव्ज मी..." ह्यूबर्ट डाक्टर मुकर्जी के कन्धे पर सिर टिकाये अँधेरी सीढ़ियों पर उल्टे-सीधे पैर रखता चढ़ रहा था।

"डाक्टर, हम कहाँ हैं?" ह्यूबर्ट सहसा इतनी जोर से चिल्लाया कि उसकी लड़खड़ाती आवाज सुनसान अँधेरे में कॉरीडोर की छत से टकराकर देर तक हवा में गूँजती रही।

"ह्यूबर्ट..." डाक्टर को एकदम ह्यूबर्ट पर गुस्सा आ गया, फिर अपने गुस्से पर ही उसे खीझ-सी हो आयी और वह ह्यूबर्ट की पीठ थपथपाने लगा।

"कुछ बात नहीं है ह्यूबर्ट डियर, तुम सिर्फ थक गये हो।" ह्यूबर्ट ने अपनी आँखें डाक्टर पर गड़ा दी, उनमें एक भयभीत बच्चे की-सी कातरता झलक रही थी, मानो डाक्टर के चेहरे से वह किसी प्रश्न का उत्तर पा लेना चाहता हो।

ह्यूबर्ट के कमरे में पहुँचकर डाक्टर ने उसे बिस्तरे पर लिटा दिया। ह्यूबर्ट ने बिना किसी विरोध के चुपचाप जूते-मोजे उतरवा दिये। जब डाक्टर ह्यूबर्ट की टाई उतारने लगा, तो ह्यूबर्ट, अपनी कुहनी के सहारे उठा, कुछ देर तक डाक्टर को आँखें फाड़ते हुए घूरता रहा, फिर धीरे-से उसका हाथ पकड़ लिया।

"डाक्टर, क्या मैं मर जाऊँगा?"

"कैसी बात करते हो ह्यूबर्ट!" डाक्टर ने हाथ छुड़ाकर धीरे-से ह्यूबर्ट का सिर तकिये पर टिका दिया।

"गुड नाइट ह्यूबर्ट...."

"गुड नाइट डाक्टर," ह्यूबर्ट ने करवट बदल ली।

"गुड नाइट मि. ह्यूबर्ट...." लतिका का स्वर सिहर गया।

किन्तु ह्यूबर्ट ने कोई उत्तर नहीं दिया। करवट बदलते ही उसे नींद आ गयी थी।

कॉरीडोर में वापिस आकर डाक्टर मुकर्जी रेलिंग के सामने खड़े हो गये। हवा के तेज झोंकों से आकाश में फैले बादलों की परतें जब कभी इकहरी हो जाती, तब उनके पीछे से चाँदनी बुझती हुई आग के धुएँ-सी आस-पास की पहाड़ियों पर फैल जाती थी।

"आपको मि. ह्यूबर्ट कहाँ मिले?" लतिका कॉरीडोर के दूसरे कोने में रेलिंग पर झुकी हुई थी।

"क्लब के बार में उन्हें देखा था, मैं न पहुँचता तो न जाने कब तक बैठे रहते। डाक्टर मुकर्जी ने सिगरेट जलायी। उन्हें अभी एक-दो मरीजों के घर जाना था। कुछ देर तक उन्हें टाल देने के इरादे से वह कॉरीडोर में खड़े रहे।"

नीचे अपने क्वार्टर में बैठा हुआ करीमुद्दीन माउथ आर्गन पर कोई पुरानी फिल्मी धुन बजा रहा था।

"आज दिन भर बादल छाये रहे, लेकिन खुलकर बारिश नहीं हुई..."

"क्रिसमस तक शायद मौसम ऐसा ही रहेगा।" कुछ देर तक दोनों चुपचाप ख़ड़े रहे। कॉन्वेन्ट स्कूल के बाहर फैले लॉन से झींगुरों का अनवरत स्वर चारों ओर फैली निस्तब्धता को और भी अधिक घना बना रहा था। कभी-कभी ऊप़र मोटर रोड पर किसी कुत्ते की रिरियाहट सुनायी पड़ा जाती थी।

"डाक्टर... कल रात आपने मि. ह्यूबर्ट से कुछ कहा था-मेरे बारे में?"

"वही जो सब लोग जानते हैं और...ह्यूबर्ट, जिसे जानना चाहिए था, नहीं जानता था..."

डाक्टर ने लतिका की ओर देखा, वह जड़वत अविचलित रेलिंग पर झुकी हुई थी।



"वैसे हम सबकी अपनी-अपनी जिद होती है, कोई छोड़ देता है, कोई आखिर तक उससे चिपका रहता है।" डाक्टर मुकर्जी अँधेरे में मुस्कराये। उनकी मुस्कराहट में सूखा-सा विरक्ति का भाव भरा था।

"कभी-कभी मैं सोचता हूँ मिस लतिका, किसी चीज को न जानना यदि गलत है, तो जान-बूझकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह उससे चिपटे रहना-यह भी गलत है। बर्मा से आते हुए मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपनी जिन्दगी बेकार-सी लगी थी। आज इस बात को अर्सा गुजर गया और जैसा आप देखती हैं, मैं जी रहा हूँ उम्मीद है कि काफी अर्सा और जीऊँगा। जिन्दगी काफी दिलचस्प लगती है, और यदि उम्र की मजबूरी न होती तो शायद मैं दूसरी शादी करने में भी न हिचकता। इसके बावजूद कौन कह सकता है कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता था-आज भी करता हूं..."

"लेकिन डाक्टर...." लतिका का गला रुँध आया था।

"क्या मि़स लतिका..."

"डाक्टर - सबकुछ होने के बावजूद वह क्या चीज़ है जो हमें चलाये चलती है, हम रुकते हैं तो भी अपने रेले में वह हमें घसीट ले जाती है।" लतिका को लगा कि वह जो कहना चाह रही है, कह नहीं पा रही, जैसे अँधेरे में कुछ खो गया है, जो मिल नहीं पा रहा, शायद कभी नहीं मिल पायेगा।

"यह तो आपको फादर एल्मण्ड ही बता सकेंगे मिस लतिका," डाक्टर की खोखली हँसी में उनका पुराना सनकीपन उभर आया था।

"अच्छा चलता हूँ, मिस लतिका, मुझे काफी देर हो गयी है," डाक्टर ने दियासलाई जलाकर घड़ी को देखा।

"गुड नाट, मिस लतिका।"

"गुड नाइट, डाक्टर...।"

डाक्टर के जाने पर लतिका कुछ देर तक अँधेरे में रेलिंग से सटी खड़ी रही। हवा चलने से कॉरीडोर में जमा हुआ कुहरा सिहर उठता था। शाम को सामान बाँधते हुए लड़कियों ने अपने-अपने कमरे के सामने जो पुरानी कापियों, अखबारों और रद्दी के ढेर लगा दिये थे, वे सब अब अँधेरे कॉरीडोर में हवा के झोंकों से इधर-उधर बिखरने लगे थे।

लतिका ने लैम्प उठाया और अपने कमरे की ओर जाने लगी। कॉरीडोर में चलते हुए उसने देखा, जूली के कमरे में प्रकाश की एक पतली रेखा दरवाजे के बाहर खिंच आयी है। लतिका को कुछ याद आया। वह कुछ क्षणों तक साँस रोके जूली के कमरे के बाहर खड़ी रही। कुछ देर बाद उसने दरवाजा खटखटाया। भीतर से कोई आवाज नहीं आयी। लतिका ने दबे हाथों से हलका-सा धक्का दिया, दरवाजा खुल गया। जूली लैम्प बुझाना भूल गयी थी। लतिका धीरे-धीरे दबे पाँव जूली के पलँग के पास चली आयी। जूली का सोता हुआ चेहरा लैम्प के फीके आलोक में पीला-सा दीख रहा था। लतिका ने अपनी जेब से वही नीला लिफाफा निकाला और उसे धीरे-से जूली के तकिये के नीचे दबाकर रख दिया।

## निर्मल वर्मा

जन्म - 3-4-1929 (शिमला)

शिक्षा - दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रमुख कृतियाँ - उपन्यास- एक चिथड़ा सुख, लालटीन की छत, वे दिन, अंतिम अरण्य, रात का रिपोर्टर

कहानियाँ - बीच बहस में, परिंदे, कौवे और कालापानी, जलती झाड़ी



निबंध - भारत और योरप तथा कला का जोखिम, शताब्दी के ढलते वर्षों में, ढलान से उतरते हुए, जोखिम, शब्द और स्मृति, दूसरे शब्दों में

यात्रा- चीड़ों पर चाँदनी

चेक कलाकृतियों और रचनाओं का अनुवाद किया। विदेशी भाषाओं में रचनाएं अनूदित

सम्मान- साहित्य अकादमी, साधना सम्मान, राममनोहर लोहिया अति विशिष्ट सम्मान, मूर्ति देवी पुरस्कार, ज्ञानपीठ पुरस्कार

# रसप्रिया

**फणीश्वरनाथ रेणु**

धूल में पड़े कीमती पत्थर को देखकर जौहरी की आँखों में एक नई झलक झिलमिला गई – अपरूप-रूप!

चरवाहा मोहना छौंड़ा को देखते ही पँचकौड़ी मिरदंगिया के मुँह से निकल पड़ा अपरूप-रूप!

....खेतों, मैंदानों, बाग-बगीचों और गाय-बैलों के बीच चरवाहा मोहना की सुन्दरता!

मिरदंगिया की क्षीण-ज्योति आँखें सजल हो गईं।

मोहना ने मुस्कराकर पूछा-तुम्हारी उँगली तो रसपिरिया बजाते टेढ़ी हुई है; है न?

ऐं! -बूढ़े मिरदंगिया ने चौंकते हुए कहा – रसपिरिया ?.... हाँ.... नहीं। तुमने कैसे.........तुमने कहाँ सुना बे....?

'बेटा' कहते-कहते वह रूक गया।.....परमानपुर में उस बार एक ब्राह्मण के लड़के को उसने प्यार से 'बेटा' कह दिया था। सारे गाँव के लड़कों ने उसे घेरकर मारपीट की तैयारी की थी – बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा? मारो साले बुड्ढे को घेरकर!...... मृदंग फोड़ दो।

मिरदंगिया ने हँसकर कहा था – अच्छा, इस बार माफ़ कर दो सरकार! अब से आप लोगों को बाप ही कहूँगा।



बच्चे खुश हो गए थे। एक दो-ढाई साल के नंगे बालक की ठुड्डी पकड़कर वह बोला था – क्यों, ठीक है न बापजी?

बच्चे ठठाकर हँस पड़े थे।

लेकिन, इस घटना के बाद फिर कभी उसने किसी बच्चे को बेटा कहने की हिम्मत नहीं की थी। मोहना को देखकर बार-बार बेटा कहने की इच्छा होती है।

– रसपिरिया की बात किसने बताई तुमसे? .....बोलो बेटा!

दस-बारह साल का मोहना भी जानता है, पँचकौड़ी अधपगला है। .....कौन इससे पार पाए! उसने दूर मैदान में चरते हुए अपने बैलों की ओर देखा।

मिरदंगिया कमलपुर के बाबू लोगों के यहाँ जा रहा था। कमलपुर के नन्दू बाबू के घराने में अब भी मिरदंगिया को चार मीठी बातें सुनने का मिल जाती हैं। एक-दो जून भोजन तो बँधा हुआ है ही; कभी-कभी रस-चरचा भी यहीं आकर सुनता है वह। दो साल के बाद वह इस इलाके में आया है। दुनिया बहुत जल्दी-जल्दी बदल रही है। ....आज सुबह शोभा मिसर के छोटे लड़के ने तो साफ़-साफ़ कह दिया – तुम जी रहे हो या थेथरई कर रहे हो मिरदंगिया?

हाँ, यह जीना भी कोई जीना है? निर्लज्जता है; और थेथरई की भी सीमा होती है।....पन्द्रह साल से वह गले में मृदंग लटकाकर गाँव-गाँव घूमता है, भीख माँगता है। ....दाहिने हाथ की टेढ़ी उँगली मृदंग पर बैठती ही नहीं है, मृदंग क्या बजाएगा! अब तो, 'धा तिंग धा तिंग' भी बड़ी मुश्किल से बजाता है।..... अतिरिक्त गाँजा-भाँग सेवन से गले की आवाज़ विकृत हो गई है। किन्तु मृदंग बजाते समय विद्यापति की पदावली गाने की वह चेष्टा अवश्य करेगा।.......फूटी भाथी से जैसी आवाज़ निकलती है, वैसी ही आवाज़.....सों-य सों-य!

पन्द्रह-बीस साल पहले तक विद्यापति नाम की थोड़ी पूछ हो जाती थी। शादी-ब्याह, यज्ञ-उपनैन, मुण्डन-छेदन आदि शुभ कार्यों में विदपतिया मण्डली की बुलाहट होती थी। पँचकौड़ी मिरदंगिया की मण्डली ने सहरसा और पूर्णिया

जिले में काफ़ी यश कमाया है। पँचकौड़ी मिरदंगिया को कौन नहीं जानता! सभी जानते हैं, वह अधपगला है!....गाँव के बड़े-बूढ़े कहते हैं - अरे, पँचकौड़ी मिरदंगिया का भी एक जमाना था!

इस जमाने में मोहना जैसा लड़का भी है - सुन्दर, सलोना और सुरीला!......रसप्रिया गाने का आग्रह करता है - एक रसपिरिया गाओ न मिरदंगिया!

-रसपिरिया सुनोगे?......अच्छा सुनाऊँगा। पहले बताओ, किसने.....

-हे-ए-ए हे-ए.......मोहना, बैल भागे......! - एक चरवाहा चिल्लाया -रे मोहना, पीठ की चमड़ी उधेड़ेगा करमू!

-अरे बाप! मोहना भागा।

कल ही करमू ने उसे बुरी तरह पीटा है। दोनों बैलों को हरे-हरे पाट के पौधों की महक खींच ले जाती है बार-बार।......खटमिट्ठा पाट!

पँचकौड़ी ने पुकारकर कहा- मैं यहीं पेड़ की छाया में बैठता हूँ। तुम बैल हाँककर लौटो। रसपिरिया नहीं सुनोगे?

मोहना जा रहा था। उसने पलटकर देखा भी नहीं।

रसप्रिया!

विदापत नाच वाले रसप्रिया गाते थे। सहरसा के जोगेन्दर झा ने एक बार विद्यापति के बारह पदों की एक पुस्तिका छपाई थी। मेले में खूब बिक्री हुई थी रसप्रिया पोथी की। विदापत नाच वालों ने गा-गाकर जनप्रिया बना दिया था रसप्रिया को।

खेत के 'आल' पर झरजामुन की छाया में पँचकौड़ी मिरदंगिया बैठा हुआ है; मोहना की राह देख रहा है। ....जेठ की चढ़ती दोपहरी में खेतों में काम करने वाले भी अब गीत नहीं गाते हैं। ...कुछ दिनों के बाद कोयल भी कूकना भूल जाएगी क्या? ऐसी दोपहरी में चुपचाप कैसे काम किया जाता है! पाँच साल पहले तक लोगों के दिल में हुलारस बाकी था। ...पहली वर्षा में भीगी हुई धरती



के हरे-भरे पौधों से एक खास किस्म की गन्ध निकलती है। तपती दोपहरी में मोम की तरह गल उठती थी-रस की डाली। वे गाने लगते थे बिरहा, चाँचर, लगनी। खेतों में काम करते हुए गाने वाले गीत भी समय-असमय का खयाल करके गाये जाते हैं। रिमझिम वर्षा में बारहमासा, चिलचिलाती धूप में बिरहा, चाँचर और लगनी-

"हाँ...रे, हल जोते हलवाहा भैया रे...

खुरपी रे चलावे...म-ज-दू-र!

एहि पंथे, धानी मोरा हे रूसलि...।"

खेतों में काम करते हलवाहों और मज़दूरों से कोई बिरही पूछ रहा है, कातर स्वर में-उसकी रूठी हुई धनी को इस राह से जाते देखा है किसीने ?....

अब तो दोपहरी नीरस ही कटती है, मानो किसी के पास एक शब्द भी नहीं रह गया है।

आसमान में चक्कर काटते हुए चील ने टिंहकारी भरी - टिं...ई.... टिं-हि-क!

मिरदंगिया ने गाली दी-शैतान!

उसको छेड़कर मोहना दूर भाग गया है। वह आतुर होकर प्रतीक्षा कर रहा है। जी करता है, दौड़कर उसके पास चला जाए। दूर चरते हुए मवेशियों के झुंडों की ओर बार-बार वह बेकार देखने की चेष्टा करता है। सब धुँधला!

उसने अपनी झोली टटोलकर देखा-आम हैं, मूढ़ी है। ....उसे भूख लगी। मोहना के सूखे मुँह की याद आई और भूख मिट गई।

मोहना जैसे सुन्दर, सुशील लड़कों की खोज में ही उसकी ज़िन्दगी के अधिकांश दिन बीते हैं। ...बिदापत नाच में नाचने वाले 'नटुआ' का अनुसन्धान खेल नहीं। ....सवर्णों के घर में नहीं, छोटी जाति के लोगों के यहाँ मोहना जैसे

लड़की-मुँहा लड़के हमेशा पैदा नहीं होते। ये अवतार लेते हैं समय-समय पर जदा जदा हि....

मैथिल ब्राह्मण, कायस्थों और राजपूतों के यहाँ विदापत वालों की बड़ी इज़्ज़त होती थी।....अपनी बोली-मिथिलाम-में नटुआ के मुँह से 'जनम अवधि हम रूप निहारल' सुनकर वे निहाल हो जाते थे। इसलिए हर मण्डली का मूलगैन नटुआ की खोज में गाँव-गाँव भटकता फिरता था-ऐसा लड़का, जिसे सजा-धजाकर नाच में उतारते ही दर्शकों में एक फुसफुसाहट फैल जाए।

-- ठीक ब्राह्मणी की तरह लगता है। है न?

--मधुकान्त ठाकुर की बेटी की तरह...।

-- नः ! छोटी चम्पा जैसी सूरत है!

पँचकौड़ी गुनी आदमी है। दूसरी-दूसरी मण्डली में मूलगैन और मिरदंगिया की अपनी-अपनी जगह होती। पँचकौड़ी मूलगैन भी था और मिरदंगिया भी। गले में मृदंग लटकाकर बजाते हुए वह गाता था, नाचता था। एक सप्ताह में ही नया लड़का भाँवरी देकर परवेश में उतरने योग्य नाच सीख लेता था।

नाच और गाना सिखाने में कभी उसे कठिनाई नहीं हुई; मृदंग के स्पष्ट 'बोल' पर लड़कों के पाँव स्वयं ही थिरकने लगते थे। लड़कों के ज़िद्दी माँ-बाप से निबटना मुश्किल व्यापार होता था। विशुद्ध मैथिल में और भी शहद लपेटकर वह फुसलाता..

-किसन कन्हैया भी नाचते थे। नाच तो एक गुण है।....अरे, जाचक कहो या दसदुआरी। चोरी, डकैती और आवारागर्दी से अच्छा है अपना-अपना 'गुन' दिखाकर लोगों को रिझाकर गुजारा करना।

एक बार उसे लड़के की चोरी भी करनी पड़ी थी।....बहुत पुरानी बात है। इतनी मार लगी थी कि....बहुत पुरानी बात है।



पुरानी ही सही, बात तो ठीक है। रसपिरीया बजाते समय तुम्हारी उँगली टेढ़ी हुई थी। ठीक है न?

मोहना न जाने कब लौट आया।

मिरदंगिया के चेहरे पर चमक लौट आई। वह मोहना की ओर एक टकटकी लगाकर देखने लगा....यह गुणवान मर रहा है। धीरे-धीरे, तिल-तिलकर वह खो रहा है। लाल-लाल ओठों पर बीड़ी की कालिख लग गई है। पेट में तिल्ली है ज़रूर!...

मिरदंगिया वैद्य भी है। एक झुंड बच्चों का बाप धीरे-धीरे एक पारिवारिक डॉक्टर की योग्यता हासिल कर लेता है।....उत्सवों के बासी-टटका भोज्यान्नों की प्रतिक्रिया कभी-कभी बहुत बुरी होती। मिरदंगिया अपने साथ नमक-सुलेमानी, चानमार-पाचन और कुनैन की गोली हमेशा रखता था।...लड़कों को सदा गरम पानी के साथ हल्दी की बुकनी खिलाता। पीपल, काली मिर्च, अदरक वगैरह को घी में भूनकर शहद के साथ सुबह-शाम चटाता। ...गरम पानी!

पोटली से मूढ़ी और आम निकालते हुए मिरदंगिया बोला-हाँ, गरम पानी! तेरी तिल्ली बढ़ गई है। गरम पानी पिओ!

- यह तुमने कैसे जान लिया? फारबिसगंज के डाकडर बाबू भी कह रहे थे तिल्ली बढ़ गई है। दवा....।

आगे कहने की ज़रूरत नहीं। मिरदंगिया जानता है, मोहना जैसे लड़कों के पेट की तिल्ली चिता पर ही गलती है! क्या होगा पूछकर, कि दवा क्यों नहीं करवाते!

- माँ भी कहती है, हल्दी की बुकनी के साथ रोज़ गरम पानी। तिल्ली गल जाएगी।

मिरदंगिया ने मुस्कराकर कहा-बड़ी सयानी है तुम्हारी माँ!

केले के सूखे पत्तल पर मूढ़ी और आम रखकर उसने बड़े प्यार से कहा- आओ, एक मुट्ठी खा लो।

- नहीं, मुझे भूख नहीं ।

किन्तु मोहना की आँखों से रह-रहकर कोई झाँकता था, मूढ़ी और आम को एक साथ निगल जाना चाहता था।...भूखा, बीमार भगवान्

-आओ, खा लो बेटा! ....रसपिरिया नहीं सुनोगे?

माँ के सिवा, आज तक किसी अन्य व्यक्ति ने मोहना को इस तरह प्यार से कभी परोसे भोजन पर नहीं बुलाया।...लेकिन, दूसरे चरवाहे देख लें तो माँ से कह देंगे। ....भीख का अन्न!

- नहीं, मुझे भूख नहीं।

मिरदंगिया अप्रतिभ हो जाता है। उसकी आँखें फिर सजल हो जाती है। मिरदंगिया ने मोहना जैसे दर्जनों सुकुमार बालकों की सेवा की है। अपने बच्चों को भी शायद वह इतना प्यार नहीं दे सकता।.... और अपना बच्चा! हूँ!... अपना-पराया? अब तो सब अपने, सब पराये।...

-मोहन!

-कोई देख लेगा तो?

-तो क्या होगा?

-माँ से कह देगा। तुम भीख माँगते हो न?

- कौन भीख माँगता है? मिरदंगिया के आत्म-सम्मान को इस भोले लड़के ने बेवजह ठेस लगा दी। उसके मन की झाँपी में कुण्डलीकार सोया हुआ साँप फन फैलाकर फुफकार उठा-ए-स्साला! मारेंगे वह तमाचा कि...

ऐ! गाली क्यों देते हो! मोहना ने डरते-डरते प्रतिवाद किया।

वह उठ खड़ा हुआ, पागलों का क्या विश्वास?



आसमान में उड़ती हुई चील ने फिर टिंहकारी भरी-टिं-हीं...ई...टिं टिं-ग!

- मोहना! मिरदंगिया की आवाज़ गम्भीर हो गई।

मोहना जरा दूर जाकर खड़ा हो गया।

- किसने कहा तुमसे कि मैं भीख माँगता हूँ? मिरदंग बजाकर पदावली गाकर, लोगों को रिझाकर पेट पालता हूँ।...तुम ठीक कहते हो, भीख का ही अन्न है यह। भीख का ही फल है यह।...मैं नहीं दूँगा।... तुम बैठों, में रसपिरिया सुना दूँ।

मिरदंगिया का चेहरा धीरे-धीरे विकृत हो रहा है। ....आसमान में उड़ने वाली चील अब पेड़ की डाली पर आ बैठी है!-टिं-टिं-हिं टिंटिक!

मोहना डर गया। एक डग, दो डग... दे दौड़। वह भागा।

एक बीघा दूर जाकर उसने चिल्लाकर कहा-डायन ने बान मारकर तुम्हारी उँगली टेढ़ी कर दी है। झूठ क्यों कहते हो कि रसपिरिया बजाते समय...

-ऐ! कौन है यह लड़का? कौन है यह मोहना?...रमपतिया भी कहती थी, डायन ने बान मार दिया है!

- मोहना!

मोहना ने जाते-जाते चिल्लाकर कहा-करैला! अच्छा, तो मोहना यह भी जानता है कि मिरदंगिया करैला कहने से चिढ़ता है!...कौन है यह मोहना?

मिरदंगिया आतंकित हो गया। उसके मन में एक अज्ञात भय समा गया। वह थर-थर काँपने लगा। कमलपुर के बाबुओं के यहाँ जाने का उत्साह भी नहीं रहा। ...सुबह शोभा मिसर के लड़के ने ठीक ही कहा था।

उसकी आँखों से आँसू झरने लगे।

जाते-जाते मोहना डंक मार गया। उसके अधिकांश शिष्यों ने ऐसा ही व्यवहार किया है उसके साथ। नाच सीखकर फुर्र से उड़ जाने का बहाना खोजने वाले एक-एक लड़के की बातें उसे याद है।

सोनमा ने तो गाली ही दी थी-गुरुगिरी करता है, चोट्टा!

रसपतिया आकाश की ओर हाथ उठाकर बोली थी-हे दिनकर! साच्छी रहना। मिरदंगिया ने फुसलाकर मेरा सर्वनाश किया है। मेरे मन में कभी चोर नहीं था। हे सुरुज भगवान् इस दसदुआरी कुत्ते का अंग-अंग फूटकर....

मिरदंगिया ने अपनी टेढ़ी उँगली को हिलाते हुए एक लम्बी साँस ली।.... रमपतिया? जोधन गुरुजी की बेटी रमपतिया! जिस दिन वह पहले-पहल जोधन की मण्डली में शामिल हुआ था-रमपतिया बारहवें में पाँव रख रही थी। .... बाल-विधवा रमपतिया पदों का अर्थ समझने लगी थी। काम करते-करते वह गुनगुनाती-नवअनुरागिनी राधा, किछु नँहि मानय बाधा।...मिरदंगिया मूलगैनी सीखने गया था और गुरुजी ने उसे मृदंग धरा दिया था....आठ वर्ष तक तालीम पाने के बाद जब गुरुजी ने स्वजात पँचकौड़ी से रमपतिया के चुमौना की बात चलाई तो मिरदंगिया सभी ताल-मात्रा भूल गया। जोधन गुरुजी से उसने अपनी जात छिपा रखी थी। रमपतिया से उसने झूठा परेम किया था। गुरुजी की मण्डली छोड़कर वह रातों-रात भाग गया। उसने गाँव आकर अपनी मण्डली बनाई, लड़कों को सिखाया-पढ़ाया और कमाने-खाने लगा। ...लेकिन, वह मूलगैन नहीं हो सका कभी। मिरदंगिया ही रहा सब दिन। ....जोधन गुरुजी की मृत्यु के बाद, एक बार गुलाब-बाग मेले में रमपतिया से उसकी भेंट हुई थी। रमपतिया उसीसे मिलने आई थी। पँचकौड़ी ने साफ़ जवाब दे दिया था-क्या झूठ-फरेब जोड़ने आई है? कमलपुर के नन्दूबाबू के पास क्यों नहीं जाती, मुझे उल्लू बनाने आई है। नन्दूबाबू का घोड़ा बारह बजे रात को...। चीख उठी थी रमपतिया-पाँचू!... चूप रहो!

उसी रात रसपिरिया बजाते समय उसकी उँगली टेढ़ी हो गई थी। मृदंग पर जमनिका देकर वह परबेस का ताल बजाने लगा। नटुआ ने डेढ़ मात्रा बेताल होकर प्रवेश किया तो उसका माथा ठनका। परबेस के बाद उसने नटुआ को झिड़की दी-एस्साला! थप्पड़ों से गाल लाल कर दूँगा। ...और रसपिरिया की



पहली कड़ी ही टूट गई। मिरदंगिया ने ताल को सम्हालने की बहुत चेष्टा की। मृदंग की सूखी चमड़ी जी उठी, दहिने पूरे पर लावा-फरही फूटने लगे और ताल कटते-कटते उसकी उँगली टेढ़ी हो गई। झूठी टेढ़ी उँगली!.....हमेशा के लिए पँचकौड़ी की मण्डली टूट गई। धीरे-धीरे इलाके से विद्यापति नाच ही उठ गया। अब तो कोई विद्यापति की चर्चा भी नहीं करते हैं। .....धूप-पानी से परे, पँचकौड़ी का शरीर ठण्डी महफ़िलों में ही पनपा था। ...बेकार ज़िन्दगी में मृदंग ने बड़ा काम दिया। बेकारी का एकमात्र सहारा-मृदंग!

एक युग से वह गले में मृदंग लटकाकर भीख माँग रहा है - धा तिंग, धा तिंग!

वह एक आम उठाकर चूसने लगा-लेकिन, लेकिन, ...लेकिन.... मोहना को डायन की बात कैसे मालूम हुई?

उँगली टेढ़ी होने की खबर सुनकर रमपतिया दौड़ी आई थी, घण्टों उँगली को पकड़कर रोती रही थी - हे दिनकर, किसने इतनी बड़ी दुश्मनी की? उसका बुरा हो। ....मेरी बात लौटा दो भगवान्! गुस्से में कही हुई बातें। नहीं, नहीं। पाँचू मैंने कुछ भी नहीं किया है। ज़रूर किसी डायन ने बान मार दिया है।

मिरदंगिया ने आँखें पोंछते हुए ढलते हुए सूरज की ओर देखा।.... इस मृदंग को कलेजे से सटाकर रमपतिया ने कितनी रातें काटी हैं!.... मिरदंग को उसने छाती से लगा लिया।

पेड़ की डाली पर बैठी हुई चील ने उड़ते हुए जोड़े से कुछ कहा-टिं-टिं-हिंक्!

-एस्साला! उसने चील को गाली दी। तम्बाकू चुनियाकर मुँह में डाल ली और मृदंग के पूरे पर उँगलियाँ नचाने लगा-धिरिनागि, धिरिनागि, धिरिनागि-धिनता!

पूरी जमनिका वह नहीं बजा सका। बीच में ही ताल टूट गया।

-अ्-कि-हे-ए-ए-ए-हा-आआ-ह-हा!

सामने झरबेरी के जंगल के उस पार किसीने सुरीली आवाज़ में, बड़े

समारोह के साथ रसप्रिय़ा की पदावली उठाई- न-व-वृन्दा-वन, न-व-न-व-तरु ग-न, न-व-नव विकसित फूल...

मिरदंगिया के सारे शरीर में एक लहर दौड़ गई। उसकी उँगलियाँ स्वयं की मृदंग के पूरे पर थिरकने लगीं। गाय-बैलों के झुण्ड दोपहर की उतरती छाया में आकर जमा होने लगे।

खेतों में काम करने वालों ने कहा-पागल है। जहाँ जी चाहा, बैठकर बजाने लगता है।

-बहुत दिन के बाद लौटा है।

- हम तो समझते थे कि कहीं मर-खप गया।

रसप्रिया की सुरीली रागिनी ताल पर आकर कट गई। मिरदंगिया का पागलपन अचानक बढ़ गया। वह उठकर दौड़ा। झरबेरी की झाड़ी के उस पास कौन है? कौन है यह शुद्ध रसप्रिया गाने वाला ?...इस ज़माने में रसप्रिया का रसिक...? झाड़ी में छिपकर मिरदंगिया ने देखा, मोहना तन्मय होकर दूसरे पद की तैयारी कर रहा है। गुनगुनाहट बन्द करके उसके गले को साफ़ किया। मोहना के गले में राधा आकर बैठ गई है! ...क्या बन्दिश है!

"न-दी-बह नयनक नी...र!

आहो...पललि बहए ताहि ती....र!"

मोहना बेसुध होकर गा रहा था। मृदंग के बोल पर वह झूम-झूम-कर गा रहा था। मिरदंगिया की आँखें उसे एकटक निहार रही थीं और उसकी उँगलियाँ फिरकी की तरह नाचने को व्याकुल हो रही थी।....चालीस वर्ष का अधपागल युगों के बाद भावावेश में नाचने लगा। ....रह-रहकर वह अपनी विकृत आवाज़ में पदों की कड़ी धरता- फोंय-फोंय, सोंय-सोंय!

धिरिनागि धिनता!

"दुहु रस....म....य तनु गुने नहीं ओर।



लागल दुहुक न भाँगय जो-र!"

मोहना के आधे काले और आधे लाल ओठों पर नई मुस्कराहट दौड़ गई। पर समाप्त करते हुए वह बोल़ा - इस्स! टेढ़ी उँगली पर भी इतनी तेजी?

मोहना हाँफने लगा। उसकी छाती की हड्डियाँ!

- उफ़! मिरदंगिया धम्म से ज़मीन पर बैठक गया-कमाल! कमाल!...किससे सीखे? कहाँ सीखी तुमने पदावली? कौन है तुम्हारा गुरु?

मोहना ने हँसकर जवाब दिया-सीखूँगा कहाँ? माँ तो रोज़ गाती है। ... प्रातकी मुझे बहुत याद है, लेकिन अभी तो उसका समय नहीं।

- हाँ बेटा! बेताले के साथ कभी मत गाना-बजाना। जो कुछ भी है, सब चला जाएगा।....समय-कुसमय का भी ख़याल रखना। लो, अब आम खा लो।

मोहना बेझिझक आम लेकर चूसने लगा।

- एक और लो।

मोहना ने तीन आम खाए और मिरदंगिया के विशेष आग्रह पर दो मुट्ठी मूढ़ी भी फाँक गया।

-अच्छा, अब एक बात बताओगे मोहना, तुम्हारे माँ-बाप क्या करते हैं।

- बाप नहीं है, अकेली माँ है। बाबू लोगों के घर कुटाई-पिसाई करती है।

- और तुम नौकरी करते हो? किसके यहाँ?

-कमलपुर के नन्दू बाबू के यहाँ।

-नन्दू बाबू के यहाँ?

मोहना ने बताया, उसका घर सहरस में है। तीसरे साल सारा गाँव कोसी मैया के पेट में चला गया। उसकी माँ उसे लेकर अपने ममहर आई है-कमलपुर।

-कमलपुर में तुम्हारी माँ के मामू रहते हैं?

मिरदंगिया कुछ देर तक चुपचाप सूर्य की ओर देखता रहा।.... नन्दू बाबू...मोहना....मोहना की माँ!

-डायन वाली बात तुम्हारी माँ कह रही थी?

- हाँ। और एक बार सामदेव झा के यहाँ जनेऊ में तुमने गिरधरपट्टी मण्डली वालों का मिरदंग छीन लिया था। ...बेताला बजा रहा था। ठीक है न?

मिरदंगिया की खिचड़ी दाढ़ी मानो अचानक सफ़ेद हो गई। उसने अपने को सम्हालकर पूछा-तुम्हारे बाप का क्या नाम है?

-अजोधादास!

-अजोधादास?

बूढ़ा अजोधादास, जिसके मुँह में न बोल, न आँख में लोर।...मण्डली में गठरी होता था। बिना पैसे का नौकर बेचारा अजोधादास?

-बड़ी सयानी है तुम्हारी माँ। एक लम्बी साँस लेकर मिदंगिया ने अपनी झोली से एक छोटा बटुआ निकाला। लाल-पीले कपड़ों के टुकड़ों को खोलकर कागज़ की एक पुड़िया निकाली उसने।

मोहन ने पहचान लिया-लोट? क्या है, लोट?

- हाँ, नोट है।

-कितने रुपये वाला है? पँचटकिया। ऐं.....दसटकिया? ज़रा छूने दोगे? कहाँ से लाए? मोहना एक साँस में सब-कुछ पूछ गया - सब दसटकिया हैं?

-हाँ, सब मिलाकर चालीस रुपये हैं। मिरदंगिया ने एक बार इधर-उधर निगाहें दौड़ाईं; फिर फुसफुसाकर बोला-मोहना बेटा! फारबिसगंज के डागडर बाबू को देकर बढ़िया दवा लिखा लेना।...खट्टा-मिट्ठा परहेज़ करना।....गरम पानी ज़रूर पीना।

-रुपये मुझे क्यों देते हो?



-जल्दी रख ले, कोई देख लेगा।

मोहना ने भी एक बार चारों ओर नज़र दौड़ाई। उसके ओठों की कालिख और गहरी हो गई।

मिरदंगिया बोला-बीड़ी-तम्बाकू भी पीते हो? खबरदार!

वह उठ खड़ा हुआ।

मोहना ने रुपये ले लिये।

-अच्छी तरह गाँठ में बाँध ले। माँ से कुछ मत कहना।

-और हाँ, यह भीख का पैसा नहीं। बेटा यह मेरी कमाई के पैसे हैं। अपनी कमाई के....।

मिरदंगिया ने जाने के लिए पाँव बढ़ाया। मेरी माँ खेत में घास काट रहीहैं चलो न! - मोहना ने आग्रह किया।

मिरदंगिया रुक गया। कुछ सोचकर बोला-नहीं मोहना! तुम्हारे जैसा गुणवान बेटा पाकर तुम्हारी माँ 'महारानी' हैं, मैं महाभिखारी दसदुआरी हूँ। जाचक, फकीर.....। दवा से जो पैसे बचें, उसका दूध पीना।

मोहना की बड़ी-बड़ी आँखें कमलपुर के नन्दू बाबू की आँखों जैसी हैं...।

-रे मो-ह-ना-रे-हे! बैल कहाँ हैं रे?

-तुम्हारी माँ पुकार रही है शायद।

- हाँ। तुमने कैसे जान लिया?

-रे-मोहना-रे-हे!

एक गाय ने सुर-में-सुर मिलाकर अपने बछड़े को बुलाया।

गाय-बैलों के घर लौटने का समय हो गया। मोहना जानता है, माँ बैल हाँककर ला रही होगी। झूठ-मूठ उसे बुला रही है। वह चुप रहा।

-जाओ। मिरदंगिया ने कहा-माँ बुला रही हैं जाओ। ...अब से मैं पदावली

नहीं, रसपिरिया नहीं, निरगुन गाऊँगा। देखो, मेरी उँगली शायद सीधी हो रही है। शुद्ध रसपिरिया कौन गा सकता है आजकल?

"अरे, चलू मन, चलू मन-ससुरार जइवे हो रामा,

कि आहो रामा,

नैहरा में अगिया लगायब रे-की...।"

खेतों की पगडंडी, झरबेरी के जंगल के बीच होकर जाती है। निरगुन गाता हुआ मिरदंगिया झरबेरी की झाड़ियों में छिप गया।

-ले। यहाँ अकेला खड़ा होकर क्या करता है? कौन बजा रहा था मृदंग रे? घास का बोझा सिर पर लेकर मोहना की माँ खड़ी है।

-पँचकौड़ी मिरदंगिया।

-ऐं, वह आया है? आया है वह? उसकी माँ ने बोझ जमीन पर पटकते हुए पूछा।

-मैंने उसके ताल पर रसपिरिया गया है। कहता था, इतना शुद्ध रसपिरिया कौन गा सकता है आजकल! ...उसकी उँगली अब ठीक हो जाएगी।

माँ ने बीमार मोहना को आह्लाद से अपनी छाती से सटा लिया।

-लेकिन तू तो हमेशा उसकी टोकरी-भर शिकायत करती थी; बेईमान है, गुरु-द्रोही है झूठा है।

- है तो! वैसे लोगों की संगत ठीक नहीं। ख़बरदार, जो उसके साथ फिर कभी गया। दसदुआरी जाचकों से हेलमेल करके अपना ही नुकसान होता है। . ..चल, उठा बोझ।

मोहना ने बोझ उठाते समय कहा-जो भी हो, गुनी आदमी के साथ रसपिरिया...।

-चौप! रसपिरिया का नाम मत ले।



अजीब है माँ। जब गुस्सायेगी तो बाघिन की तरह और जब खुश होती है तो गाय की तरह हुंकारती आएगी और छाती से लगा लेगी। तुरंत खुश, तुरंत नाराज।....

दूर से मृदंग की आवाज़ आई-धा तिंग, धा तिंग।

मोहना की माँ खेत की ऊबड़-खाबड़ मेड़ पर चल रही थी। ठोकर खाकर गिरते-गिरते बची। घास का बोझ गिरकर खुल गया। मोहना पीछे-पीछे मुँह लटकाकर जा रहा था। बोला -क्या हुआ, माँ?

- कुछ नहीं।

- धा तिंग, धा तिंग!

मोहना की माँ खेत की मेड़ पर बैठ गई। जेठ की शाम से पहले जो पुरवैया चलती है, धीरे-धीरे तेज़ हो गई। ....मिट्टी की सोंधी सुगन्ध हवा में धीर-धीरे घुलने लगी।

-धा तिंग, धा तिंग!

-मिरदंगिया और कुछ बोलता था, बेटा? मोहना की माँ आगे कुछ न बोल सकी।

-कहता था, तुम्हारे-जैसा गुणवान बेटा पाकर तुम्हारी माँ महारानी है, मैं तो दसदुआरी हूँ...।

- झूठा, बेईमान! मोहना की माँ आँसू पोंछकर बोली। ऐसे लोगों की संगत कभी मत करना।

मोहना चुपचाप खड़ा रहा।

## फणीश्वरनाथ रेणू

जन्म 4 मार्च 1921। जन्म स्थान-औराडी हिंगन्ना, जिला-पूर्णियां, बिहार।

जबसे होश संभाला शोषण-दमन के खिलाफ लड़ाई में शामिल रहे। इस प्रसंग में सोशलिस्ट पार्टी में शामिल। 1942 के भारत-छोड़ो आंन्दोलन में प्रमुखता से भाग लिया। 1954 में 'मैला आँचल' उपन्यास प्रकाशित। इससे हिन्दी के कथाकार के रूप में अभूतपूर्व प्रतिष्ठा मिली।

अन्य रचनाएँ - परती परिकथा, दीर्घतया, जुलूस, पलटू बाबू रोड आदि उपन्यास, ठुमरी, अगिनखोर, आदिम रात्रि की महक, एक श्रावणी दोपहरी की धूप, आदि। कहानी संग्रह, ऋणजल-धनजल, वन तुलसी की गंध, श्रुत-अश्रुत पूर्व आदि संस्मरण, नेपाली क्रान्ति कथा (रिपोर्ताज)।

11 अप्रैल, 1977 को पटना में आखिरी सांस ली।



# वाङ्‌चू

**भीष्म साहनी**

तभी दूर से वाङ्‌चू आता दिखाई दिया।

नदी के किनारे, लालमंडी की सड़क पर धीरे-धीरे डोलता-सा चला आ रहा था। धूसर रंग का चोगा पहने था और दूर से लगता था कि बौद्ध भिक्षुओं की ही भांति उसका सिर भी घुटा हुआ है। पीछे शंकराचार्य की ऊंची पहाड़ी थी और ऊपर स्वच्छ नीला आकाश। सड़क के दोनों ओर ऊंचे-ऊंचे सफेदे के पेड़ों की कतारें। क्षण-भर के लिए मुझे लगा, जैसे वाङ्‌चू इतिहास के पन्नों पर से उतरकर आ गया है। प्राचीनकाल में इसी भांति देश-विदेश से आनेवाले चीवरधारी भिक्षु पहाड़ों और घाटियों को लांघकर भारत के आया करते होंगे। अतीत के ऐसे ही रोमांचकारी धुंधलके में मुझे वाङ्‌चू भी चलता हुआ नजर आया। जब से वह श्रीनगर में आया था, बौद्ध विहारों के खंडहरों और संग्रहालयों में घूम रहा था। इस समय भी वह लालमंडी के संग्रहालय में से निकलकर आ रहा था जहां बौद्धकाल के अनेक अवशेष रखे हैं। उसकी मनः स्थिति को देखते हुए लगता, वह सचमुच ही वर्तमान से कटकर अतीत के ही किसी कालखंड में विचर रहा था।

"बोधिसत्वों से भेंट हो गई?" पास आने पर मैंने चुटकी ली।

वह मुस्करा दिया, हल्की टेढ़ी-सी मुस्कान, जिसे मेरी मौसेरी बहन डेढ दांत की मुस्कान कहा करती थी, क्योंकि मुस्कराते वक्त वाङ्‌चू का ऊपर का होंठ केवल एक ओर से थोड़ा-सा ऊपर को उठता था।

"संग्रहालय के बाहर बहुत-सी मूर्तियां रखी हैं। मैं वही देखता रहा।" उसने धीमे से कहा, फिर वह सहसा भावुक होकर बोला, "एक मूर्ति के केवल पैर ही पैर बचे हैं....

मैंने सोचा, आगे कुछ कहेगा, परंतु वह इतना भावविह्वल हो उठा था कि उसका गला रुंध गया और उसके लिए बोलना असंभव हो गया।

हम एक साथ घर की ओर लौटने लगे।

"महाप्राण के भी पैर ही पहले दिखाए जाते थे।" उसने कांपती-सी आवाज में कहा और अपना हाथ मेरी कोहनी पर रख दिया। उसके हाथ का हल्का-सा कम्पन धड़कते दिल की तरह महसूस हो रहा था।

"आरम्भ में महाप्राण की मूर्तियां नहीं बनाई जाती थीं ना! तुम तो जानते हो, पहले स्तूप के नीचे केवल पैर ही दिखाए जाते थे। मूर्तियां तो बाद में बनाई जाने लगी थीं।"

जाहिर है, बोधिसत्त्व के पैर देखकर उसे महाप्राण के पैर याद हो आए थे और वह भावुक हो उठा था। कुछ पता नहीं चलता था, कौन-सी बात किस वक्त वाङ्चू को पुलकाने लगे, किस वक्त वह गद्गद् होने लगे।

"तुमने बहुत देर कर दी। सभी लोग तुम्हारा इंतजार कर रहे हैं। मैं चिनारों के नीचे भी तुम्हें खोज आया हूं।" मैंने कहा।

"मैं संग्रहालय में था...."

"वह तो ठीक है, पर दो बजे तक हमें हब्बाकदल पहुंच जाना चाहिए, वरना जाने का कोई लाभ नहीं।"

उसने छोटे-छोटे झटकों के साथ तीन बार सिर हिलाया और कदम बढ़ा दिए।

वाङ्चू भारत में मतवाला बना घूम रहा था। वह महाप्राण के जन्मस्थान



लुम्बिनी की यात्रा नंगे पांव कर चुका था, सारा रास्ता हाथ जोड़े हुए। जिस-जिस दिशा में महाप्राण के चरण उठे थे, वाङ्चू मन्त्रमुग्ध-सा उसी-उसी दिशा में घूम आया था। सारनाथ में, जहां महाप्राण ने अपना पहला प्रवचन दिया था और दो मृगशावक मन्त्रमुग्ध-से झाड़ियों में से निकलकर उनकी ओर देखते रह गए थे, वाङ्चू एक पीपल के पेड़ के नीचे घंटों नतमस्तक बैठा रहा था, यहां तक कि उसके कथानुसार उसके मस्तक से अस्फुट - से वाक्य गूंजने लगे थे और उसे लगा था, जैसे महाप्राण का पहला प्रवचन सुन रहा है। वह इस भक्तिपूर्ण कल्पना में इतना गहरा डूब गया था कि सारनाथ में ही रहने लगा था। गंगा की धार को वह दसियों शताब्दियों के धुंधलके में पावन जलप्रवाह के रूप में देखता। जब से श्रीनगर में आया था, बर्फ के ढ़के पहाड़ों की चोटियों की ओर देखते हुए अक्सर मुझसे कहता- वह रास्ता ल्हासा को जाता है ना, उसी रास्ते बौद्ध ग्रंथ तिब्बत में भेजे गए थे। वह उस पर्वतमाला को भी पुण्य-पावन मानता था क्योंकि उस पर बिछी पगडंडियों के रास्ते बौद्ध भिक्षु तिब्बत की ओर गए थे।

वाङ्चू कुछ वर्षो पहले वृद्ध प्रोफेसर तानशान के साथ भारत आया था। कुछ दिनों तक तो वह उन्हीं के साथ रहा और हिंदी और अंग्रेजी भाषाओं का अध्ययन करता रहा, फिर प्रोफेसर शान चीन लौट गए और वह यहीं बना रहा और किसी बौद्ध सोसाइटी से अनुदान प्राप्त कर सारनाथ में आकर बैठ गया। भावुक, काव्यमयी प्राकृति का जीवन, जो प्राचीनता के मनमोहक वातावरण में विचरते रहना चाहता था.... वह यहां तथ्यों की खोज करने कहीं आया था, वह तो बोधिसत्त्वों की मूर्तियों को देखकर गद्गद् होने आया था। महीने-भर से संग्रहालयों से चक्कर काट रहा था, लेकिन उसने कभी नहीं बताया कि बौद्ध धर्म की किस शिक्षा से उसे सबसे अधिक प्रेरणा मिलती है। न तो वह किसी तथ्य को पाकर उत्साह से खिल उठता, न उसे काई संशय परेशान करता। वह भक्त अधिक और जिज्ञासु कम था।

मुझे याद नहीं कि उसने हमारे साथ कभी खुलकर बात की हो या किसी विषय पर अपना मत पेश किया हो। उन दिनों मेरे और मेरे दोस्तों के बीच घंटों बहसें चला करतीं, कभी देश की राजनीति के बारे में, कभी धर्म मे बारे में, लेकिन वाङ्चू इनमें कभी भाग नहीं लेता था। वह सारा वक्त धीमे-धीमे मुस्कराता रहता और कमरे के एक कोने में दुबककर बैठा रहता। उन दिनों देश में वलवलों का सैलाब-सा उठ रहा था। स्वतन्त्रता-आंदोलन कौन-सा रूख पकड़ेगा। क्रियात्मक स्तर पर तो हम लोग कुछ करते-कराते नहीं थे, लेकिन भावनात्मक स्तर पर उसके साथ बहुत कुछ जुड़े हुए थे। इस पर वाङ्चू की तटस्थता कभी हमें अखरने लगाती, तो कभी अचम्भे में डाल देती। वह हमारे देश की ही गतिविधि के बारे में नहीं, अपने देश की गतिविधि में भी कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेता था। उससे उसके अपने देश के बारे में भी पूछो, तो मुस्कराता सिर हिलाता रहता था।

कुछ दिनों से श्रीनगर की हवा भी बदली हुई थी। कुछ मास पहले यहां गोली चली थी। कश्मीर के लोग महाराजा के खिलाफ उठ खड़े हुए थे और अब कुछ दिनों से शहर में एक नई उत्तेजना पाई जाती थी। नेहरू जी श्रीनगर आनेवाले थे और उनका स्वागत करने के लिए नगर को दुल्हन की तरह सजाया जा रहा था। आज ही दोपहर को नेहरू जी श्रीनगर पहुंच रहे हैं। नदी के रास्ते नावों के जुलूस की शक्ल में उन्हें लाने की योजना थी और इसी कारण मैं वाङ्चू को खोजता हुआ उस ओर आ निकला था।

हम घर की ओर बढ़े जा रहे थे, जब सहसा वाङ्चू ठिठकर खड़ा हो गया।

"क्या मेरा जाना बहुत जरूरी है? जैसा तुम कहो...."

मुझे धक्का-सा लगा। ऐसे समय में, जब लाखों लोग नेहरू जी के स्वागत के लिए इकट्ठे हो रहे थे, वाङ्चू का यह कहना कि अगर वह साथ न जाए, तो कैसा रहे, मुझे सचमुच बुरा लगा। लेकिन फिर स्वयं ही कुछ सोचकर उसने अपने आग्रह को दोहराया नहीं और हम घर की ओर साथ-साथ जाने लगे।



कुछ देर बाद हब्बाकदल के पुल के निकट लाखों की भीड़ में हम लोग खड़े थे - मैं, वाङ्चू तथा मेरे दो-तीन मित्र। चारों ओर जहां तक नजर जाती, लोग ही लोग थे - मकानों की छतों पर, पुल पर, नदी के ढलवां किनारों पर। मैं बार-बार कनखियों से वाङ्चू के चेहरे की ओर देख रहा था कि उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई है, कि हमारे दिल में उठनेवाले वलवलों का उस पर क्या असर हुआ है। यों भी यह मेरी आदत-सी बन गई है, जब भी कोई विदेशी साथ में हो मैं उसके चेहरे का भाव पढ़ने की कोशिश करता रहता हूं कि हमारे रीति-रिवाज, हमारे जीवनयापन के बारे में उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। वाङ्चू अधमुंदी आंखों से सामने का दृश्य देखे जा रहा था। जिस समय नेहरू जी की नाव सामने आई, तो जैसे मकानों की छतें भी हिल उठीं। राजहंस शक्ल की सफेद नाव में नेहरू जी स्थानीय नेताओं के साथ खड़े हाथ हिला-हिलाकर लोगों का अभिवादन कर रहे थे। और हवा में फूल ही फूल बिखर गए। मैंने पलटकर वाङ्चू के चेहरे की ओर देखा। वह पहले ही की तरह निश्चेष्ट-सा सामने का दृश्य देखे जा रहा था।

"आपको नेहरू जी कैसे लगे?" मेरे एक साथी ने वाङ्चू से पूछा।

वाङ्चू ने अपनी टेढ़ी-सी आंखें उठाकर चेहरे की ओर देखा, फिर अपनी डेढ़ दांत की मुस्कान के साथ कहा, "अच्चा, बहुत अच्चा!"

वाङ्चू मामूली-सी हिन्दी और अंग्रेजी जानता था। अगर तेज बोलो, तो उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता था।

नेहरू जी की नाव दूर जा चुकी थी लेकिन नावों का जुलूस अभी भी चलता जा रहा था, जब वाङ्चू सहसा मुझसे बोला, "मैं थोड़ी देर के लिए संग्रहालय में जाना चाहूंगा। इधर से रास्ता जाता है, मैं स्वयं चला जाऊंगा।" और वह बिना कुछ कहे, एक बार अधमिची आंखों से मुस्काया और हल्के से हाथ हिलाकर मुड़ गया।

हम सभी हैरान रह गए। इसे सचमुच जुलूस में रूचि नहीं रही होगी जो इतनी जल्दी संग्रहालय की ओर अकेला चल दिया है।

"यार, किस बूदम को उठा लाए हो? यह क्या चीज है? कहां से पकड़ लाए हो इसे?" मेरे एक मित्र ने कहा।

"बाहर का रहनेवाला है, इसे हमारी बातों में कैसे रूचि हो सकती है!" मैंने सफाई देते हुए कहा।

"वाह, देश में इतना कुछ हो रहा हो और इसे रूचि न हो!"

वाङ्चू अब तक दूर जा चुका था और भीड़ में से निकलकर पेड़ों की कतार के नीचे आंखों से ओझल होता जा रहा था।

"मगर यह है कौन?" दूसरा एक मित्र बोला, "न यह बोलता है, न चहकता है। कुछ पता नहीं चलता, हंस रहा है या रो रहा है। सारा वक्त एक कोने में दुबककर बैठा रहता है।"

"नहीं, नहीं बड़ा समझदार आदमी है। पिछले पांच साल से यहां पर रह रहा है। बड़ा पढ़ा-लिखा आदमी है। बौद्ध धर्म के बारे में बहुत कुछ जानता है।" मैंने फिर उसकी सफाई देते हुए कहा।

मेरी नजर में इस बात का बड़ा महत्व था कि वह बौद्ध ग्रंथ बांचता है और उन्हें बांचने के लिए इतनी दूर से आया है।

"अरे भाड़ में जाए ऐसी पढ़ाई। वाह जी, जुलूस को छोड़कर म्यूजियम की ओर चल दिया है!"

"सीधी-सी बात है यार!" मैंने जोड़ा, "इसे यहां भारत का वर्तमान खींचकर नहीं लाया, भारत का अतीत लाया है। ह्यूनत्सांग भी तो यहां बौद्ध ग्रंथ ही बांचने आया था। यह भी शिक्षार्थी है। बौद्ध मत में इसकी रुचि है।"

घर लौटते हुए हम लोग सारा रास्ता वाङ्चू की ही चर्चा करते रहे। अजय का



मत था, अगर वह पांच साल भारत में काट गया है, तो अब वह जिन्दगी-भर यहीं पर रहेगा।

"अब आ गया है, तो लौटकर नहीं जाएगा। भारत मे एक बार परदेशी आ जाए, तो लौटने का नाम नहीं लेता।"

"भारत देश वह दलदल है कि जिसमें एक बार बाहर के आदमी का पांव पड़ जाए, तो धंसता ही चला जाता है, निकलना चाहे भी तो नहीं निकल सकता!" दिलीप ने मजाक में कहा, "न जाने कौन-से कमल-फूल तोड़ने के लिए इस दलदल में घुसा है!"

"हमारा देश हम हिंदुस्तानियों को पसंद नहीं, बाहर के लोगों को तो बहुत पसंद है।" मैंने कहा।

"पसंद क्यों न होगा! यहां थोड़े में गुजर हो जाती है, सारा वक्त धूप खिली रहती है, फिर बाहर के आदमी को लोग परेशान नहीं करते, जहां बैठा वहीं बैठा रहने देते हैं। इस पर उन्हें तुम जैसे झुड्डू भी मिल जाते हैं जो उनका गुणगान करते रहते हैं और उनकी आवभगत करते रहते हैं। तुम्हारा वाङ्चू भी यहीं पर मरेगा....।"

हमारे यहां उन दिनों मेरी छोटी मौसेरी बहन ठहरी हुई थी, वही जो वाङ्चू की मुस्कान को डेढ़ दांत की मुस्कान कहा करती थी। चुलबुली-सी लड़की बात-बात पर ठिठोली करती रहती थी। मैंने दो-एक बार वाङ्चू को कनखियों से उसकी ओर देखते पाया था, लेकिन कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वह सभी को कनखियों से ही देखता था। पर उस शाम नीलम मेरे पास आयी और बोली, "आपके दोस्त ने मुझे उपहार दिया है। प्रेमोपहार!"

मेरे कान खड़े हो गए, "क्या दिया है?"

"झूमरों का जोड़ा।"

और उसने दोनों मुट्ठियां खोल दीं जिनमें चांदी के कश्मीरी चलन के दो

सफेद झूमर चमक रहे थे। और फिर वह दोनों झूमर अपने कानों के पास ले जाकर बोली, "कैसे लगते हैं?"

मैं हत्बुद्धि-सा नीलम की ओर देख रहा था।

"उसके अपने कान कैसे भूरे-भूरे हैं!" नीलम ने हंसकर कहा।

"किसके?"

"मेरे इस प्रेमी के।"

"तुम्हें उसके भूरे कान पसन्द हैं?"

"बहुत ज्यादा। जब शरमाता है, तो ब्राउन हो जाते हैं गहरे ब्राउन।" और नीलम खिलखिलाकर हंस पड़ी।

लड़कियां कैसे उस आदमी के प्रेम का मजाक उड़ा सकती है, जो उन्हें पसंद न हो! या कहीं नीलम मुझे बना तो नहीं रही है?

पर मैं इस सूचना से बहुत विचलित नहीं हुआ था। नीलम लाहौर में पढ़ती थी और वाङ्चू सारनाथ में रहता था और अब वह हफ्ते-भर में श्रीनगर से वापस जानेवाला था। इस प्रेम का अंकुर अपने-आप ही जल-भुन जाएगा।

"नीलम, ये झूमर तो तुमने उससे ले लिए हैं, पर इस प्रकार की दोस्ती अंत में उसके लिए दुखदायी होगी। बने-बनाएगा कुछ नहीं।"

"वाह भैया, तुम भी कैसे दकियानूस हो! मैंने भी चमड़े का एक राइटिंग पैड उसे उपहार में दिया है। मेरे पास पहले से पड़ा था, मैंने उसे दे दिया। जब लौटेगा तो प्रेम-पत्र लिखने में उसे आसानी होगी।"

"वह क्या कहता था?"

"कहता क्या था, सारा वक्त उसके हाथ कांपते रहे और चेहरा कभी लाल होता रहा, कभी पीला। कहता था, मुझे पत्र लिखना, मेरे पत्रों का जवाब देना। और क्या कहेगा बेचारा, भूरे कानोंवाला।"



मैंने ध्यान से नीलम की ओर देखा, पर उसकी आंखों में मुझे हंसी के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं दिया। लड़कियां दिल की बात छिपाना खूब जानती हैं। मुझे लगा, नीलम उसे बढ़ावा दे रही है। उसके लिए वह खिलवाड़ था, लेकिन वाङ्चू जरूर इसका दूसरा ही अर्थ निकालेगा।

इसके बाद मुझे लगा कि वाङ्चू अपना सन्तुलन खो रहा है। उसी रात मैं अपने कमरे की खिड़की के पास खड़ा बाहर मैदान में चिनारों की पांत की ओर देख रहा था, जब चांदनी में, कुछ दूरी पर पेड़ों के नीचे मुझे वाङ्चू टहलता दिखाई दिया। वह अक्सर रात को देर तक पेड़ों के नीचे टहलता रहता था। पर आज वह अकेला नहीं था। नीलम भी उसके साथ ठुमक-ठुमककर चलती जा रही थी। मुझे नीलम पर गुस्सा आया। लड़कियां कितनी जालिम होती हैं! यह जानते हुए भी कि इस खिलवाड़ से वाङ्चू की बेचैनी बढ़ेगी, वह उसे बढ़ावा दिए जा रही थी।

दूसरे रोज खाने की मेज पर नीलम फिर उसके साथ ठिठोली करने लगी। किचन में से एक चौड़ा-सा एलुमीनियम का डिब्बा उठा लाई। उसका चेहरा तपे तांबे जैसा लाल हो रहा था।

"आपके लिए रोटियां और आलू बना लाई हूं। आम के अचार की फांक भी रखी है। आप जानते हैं फांक किसे कहते हैं? एक बार कहो तो 'फांक'। कहो वाङ्चू जी, 'फांक'!"

उसने नीलम की ओर खोई-खोई आंखों से देखा और बोला, "बांक!"

हम सभी खिलखिलाकर हंस पड़े।

"बांक नहीं, फांक!"

फिर हंसी का फव्वारा फूट पड़ा।

नीलम ने डिब्बा खोला। उसमें से आम के अचार का टुकड़ा निकालकर उसे दिखाते हुए बोली, "यह है फांक, फांक इसे कहते हैं!" और उसे वाङ्चू की नाक

के पास ले जाकर बोली, “इसे सूंघने पर मुंह में पानी भर आता है। आया मुंह में पानी? अब कहो, ‘फांक’!”

“नीलम, क्या फिजूल बातें कर रही हो! बैठो आराम से!” मैंने डांटते हुए कहा।

नीलम बैठ गई, पर उसकी हरकतें बंद नहीं हुई। बड़े आग्रह से वाङ्चू से कहने लगी, “बनारस जाकर हमें भूल नहीं जाईयेगा। हमें खत जरूर लिखिएगा और मगर किसी चीज की जरूरत हो तो संकोच नहीं कीजिएगा।”

वाङ्चू शब्दों के अर्थ तो समझ लेता था लेकिन उनके व्यंग्य की ध्वनि वह नहीं पकड़ पाता था। वह अधिकाधिक विचलित महसूस कर रहा था।

“भेड़ की खाल की जरूरत हो या कोई नमदा या अखरोट...”

“नीलम!”

“क्यों भैया, भेड़ की खाल पर बैठकर ग्रंथ बांचेगे!”

वाङ्चू के कान लाल होने लगे। शायद पहली बार उसे भास होने लगा था कि नीलम ठिठोली कर रही है। उसके कान सचमुच भूरे रंग के हो रहे थे, जिनका नीलम मजाक उड़ाया करती थी।

“नीलम जी, आप लोगों ने मेरा बड़ा अतिथि-सत्कार किया है। मैं बड़ा कृतज्ञ हूं।”

हम सब चुप हो गए। नीलम भी झेंप-सी गई। वाङ्चू ने जरूर ही उसकी ठिठोली से समझ लिया होगा। उसके मन को जरूर ठेस लगी होगी। पर मेरे मन में यह विचार भी उठा कि एक तरह से यह अच्छा ही है कि नीलम के प्रति उसकी भावना बदले, वरना उसे ही सबसे अधिक परेशानी होगी।

शायद वाङ्चू अपनी स्थिति को जानते-समझते हुए भी एक स्वाभाविक आकर्षण की चपेट में आ गया था। भावुक व्यक्ति का अपने पर कोई काबू नहीं होता। वह पछाड़ खाकर गिरता है, तभी अपनी भूल को समझ पाता है।



सप्ताह के अन्तिम दिनों में वह रोज कोई-न-कोई उपहार लेकर आने लगा। एक बार मेरे लिए भी एक चोगा ले आया और बच्चों की तरह जिद करने लगा कि मैं और वह अपना-अपना चोगा पहनकर एक साथ घूमने जाएं। संग्रहालय में वह अब भी जाता था, दो-एक बार नीलम को भी अपने साथ ले गया था और लौटने पर सारी शाम नीलम बोधिसत्त्वों की खिल्ली उड़ाती रही थीं मैं मन-ही-मन नीलम के इस व्यवहार का स्वागत ही करता रहा, क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि वाङ्चू की कोई भावना हमारे घर में जड़ जमा पाए। सप्ताह बीत गया और वाङ्चू सारनाथ लौट गया।

वाङ्चू के चले जाने के बाद उसके साथ मेरा संपर्क वैसा ही रहा, जैसा आमतौर पर एक परिचित व्यक्ति के साथ रहता है। गाहे-ब-गाहे कभी खत आ जाता, कभी किसी आते-जाते व्यक्ति से उसकी सूचना मिल जाती। वह उन लोगों में से था, जो बरसों तक औपचारिक परिचय की परिधि पर ही डोलते रहते हैं, न परिधि लांघकर अंदर आते हैं और न ही पीछे हटकर आंखों से ओझल होते हैं। मुझे इतनी ही जानकारी रही कि उसकी समतल और बंधी-बंधाई दिनचर्या में कोई अन्तर नहीं आया। कुछ देर तक मुझे कुतूहल-सा बना रहा कि नीलम और वाङ्चू के बीच की बात आगे बढ़ी या नहीं, लेकिन लगा कि वह प्रेम भी वाङ्चू के जीवन पर हावी नहीं हो पाया।

बरस और साल बीतते गए। हमारे देश में उन दिनों बहुत कुछ घट रहा था। आए दिन सत्यग्रह होते, बंगाल में दुर्भिक्ष फूटा, ‘भारत छोड़ो’ का आंदोलन हुआ, सड़कों पर गोलियां चलीं, बम्बई में नाविकों का विद्रोह हुआ, देश में खूरेजी हुई, फिर देश का बंटवारा हुआ, और सारा वक्त वाङ्चू सारनाथ में ही बना रहा। वह अपने में सन्तुष्ट जाना पड़ता था। कभी लिखता कि तन्त्रज्ञान का अध्ययन कर रहा है, कभी पता चलता कि कोई पुस्तक लिखने की योजना बना रहा है।

इसके बाद मेरी मुलाकात वाङ्चू से दिल्ली में हुई। यह उन दिनों की बात

है, जब चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई भारत-यात्रा पर आनेवाले थे। वाङ्चू अचानक सड़क पर मुझे मिल गया और मैं उसे अपने घर ले आया। मुझे अच्छा लगा कि चीन के प्रधानमंत्री के आगमन की सूचना मिली है, तो मुझे उसकी मनोवृत्ति पर अचम्भा हुआ। उसका स्वभाव वैसा-का-वैसा ही था। पहले की ही तरह हौले-हौले अपनी डेढ़ दांत की मुस्कान मुस्कराता रहा। वैसा ही निश्चेष्ट, असम्पृक्त। इसी बीच उसने कोई पुस्तक अथवा लेखादि भी नहीं लिखे थे। मेरे पूछने पर इस काम में उसने कोई विशेष रूचि भी नहीं दिखाई। तन्त्रज्ञान की चर्चा करते समय भी वह बहुत चहका नहीं। दो-एक ग्रंथों के बारे में बताता रहा, जिसमें से वह कुछ टिप्पणियां लेता रहा था। अपने किसी लेख की भी चर्चा उसने की, जिस पर वह अभी काम कर रहा था। नीलम के साथ उसकी चिट्ठी-पत्री चलती रही, उसने बताया, हालांकि नीलम कब की ब्याही जा चुकी थी और दो बच्चो की मां बन चुकी थी। समय की गति के साथ हमारी मूल धारणाएं भले ही न बदलें, पर उनके आग्रह और उत्सुकता में स्थिरता-सी आ गई थी पहले जैसी भावविह्वलता नहीं थी। बोधिसत्त्वों के पैरों पर अपने प्राण न्योछावर नहीं करता फिरता था। लेकिन अपने जीवन से सन्तुष्ट था। पहले की ही भांति थोड़ा खाता, थोड़ा पढ़ता, थोडा भ्रमण करता और थोड़ा सोता था। और दूर लड़कपन से झुटपुटे में किसी भावावेश में चुने गए अपने जीवन-पथ पर कछुए की चाल मजे से चलता आ रहा था।

खाना खाने के बाद हमारे बीच बहस छिड़ गई - "सामाजिक शक्तियों को समझे बिना तुम बौद्ध धर्म को भी कैसे समझ पाओगे? ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र एक-दूसरे से जुड़ा है, जीवन से जुड़ा है। कोई चीज जीवन से अलग नहीं है। तुम जीवन से अलग होकर धर्म को भी कैसे समझ सकते हो?"

कभी वह मुस्कराता, कभी सिर हिलाता और सारा वक्त दार्शनिकों की तरह मेरे चेहरे की ओर देखता रहा। मुझे लग रहा था कि मेरे कहे का उस पर कोई असर नहीं हो रहा, कि चिकने घड़े पर मैं पानी उंडेले जा रहा हूं।



"हमारे देश में न सही, तुम अपने देश के जीवन में तो रूचि लो! इतना जानो-समझो कि वहां पर क्या हो रहा है!"

इस पर भी वह सिर हिलाता और मुस्कराता रहा। मैं जानता था कि एक भाई को छोड़कर चीन में उसका कोई नहीं है। 1929 में वहां पर कोई राजनीतिक उथल-पुथल हुई थी, उसमें उसका गांव जला डाला गया था और सब सगे-संबंधी मर गए थे या भाग गए थे। ले-देकर एक भाई बचा था और वह पेकिंग के निकट किसी गांव में रहता था। बरसों से वाङ्चू का संपर्क उसके साथ टूट चूका था। वाङ्चू पहले गांव के स्कूल में पढ़ता रहा था, बाद में पेकिंग के एक विद्यालय में पढने लगा था। वहीं से वह प्रोफेसर शान के साथ भारत चला आया था।

"सुनो वाङ्चू, भारत और चीन के बीच बंद दरवाजे अब खुल रहे हैं। अब दोनों देशों के बीच संपर्क स्थापित हो रहे हैं और इसका बड़ा महत्त्व है। अध्ययन का जो काम तुम अभी तक अलग-थलग करते रहे हो, वही अब तुम अपने देश के मान्य प्रतिनिधि के रूप में कर सकते हो। तुम्हारी सरकार तुम्हारे अनुदान का प्रबंध करेगी। अब तुम्हें अलग-थलग पड़े नहीं रहना पड़ेगा। तुम पन्द्रह साल से अधिक समय से भारत में रह रहे हो, अंग्रेजी और हिंदी भाषाएं जानते हो, बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करते रहे हो, तुम दोनों देशों के सांस्कृतिक संपर्क में एक बहूमूल्य कड़ी बन सकते हो...."

उसकी आंखों में हल्की-सी चमक आई। सचमुच उसे कुछ सुविधाएं मिल सकती थीं। क्यों न उनसे लाभ उठाया जाए। दोनो देशों कें बीच पाई जानेवाली सद्भावना से वह भी प्रभावित हुआ था। उसने बताया कि कुछ ही दिनों पहले अनुदान की रकम लेने जब वह बनारस गया, तो सड़कों पर राह चलते लोग उससे गले मिल रहे थे। मैंने उसे मशविरा दिया कि कुछ समय के लिए जरूर अपने देश लौट जाए और वहां होने वाले विराट परिवर्तनों को देखे और समझे कि सारनाथ में अलग-थलग बैठे रहने से उसे कुछ लाभ नहीं होगा, आदि-आदि।

वह सुनता रहा, सिर हिलाता और मुस्कराता रहा, लेकिन मुझे कुछ मालूम नहीं हो पाया कि उस पर कोई असर हुआ है या नहीं।

लगभग छह महीने बाद उसका पत्र आया कि वह चीन जा रहा है। मुझे बड़ा संतोष हुआ। अपने देश में जाएगा तो धोबी के कुत्तेवाली उसकी स्थिति खत्म होगी, कहीं का होकर तो रहेगा। उसके जीवन में नई स्फूर्ति आएगी। उसने लिखा कि वह अपना एक ट्रंक सारनाथ में छोड़े जा रहा है जिसमें उसकी कुछ किताबें और शोध के कागज आदि रखे हैं, कि बरसों तक भारत में रह चुकने के बाद वह अपने को भारत का ही निवासी मानता है, कि वह शीघ्र ही लौट आएगा और फिर अपना अध्ययन-कार्य करने लगेगा। मैं मन-ही-मन हंस दिया, एक बार अपने देश में गया लौटकर यहां नहीं आने का।

चीन में वह लगभग दो वर्षों तक रहा। वहां से उसने मुझे पेकिंग के प्राचीन राजमहल का चित्रकार्ड भेजा, दो-एक पत्र भी लिखे, पर उनसे मनः स्थिति के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं मिली।

उन दिनों चीन में भी बड़े वलवले उठ रहे थे, बड़ा जोश था और उस जोश की लपेट में लगभग सभी लोग थे। जीवन नई करवट ले रहा था। लोग काम करने जाते, तो टोलियां बनाकर, गाते हुए, लाल ध्वज हाथ में उठाए हुए। वाङ्चू सड़क के किनारे खड़ा उन्हें देखता रह जाता। अपने संकोची स्वभाव के कारण वह टोलियों के साथ गाते हुए जा तो नहीं सकता था, लेकिन उन्हें जाते देखकर हैरान-सा खड़ा रहता, मानों किसी दूसरी दूनिया में पहुंच गया हो।

उसे अपना भाई तो नहीं मिला, लेकिन एक पुराना अध्यापक, दूर-पार की उसकी मौसी और दो-एक परिचित मिल गए थे। वह अपने गांव गया। गांव में बहुत कुछ बदल गया था। स्टेशन से घर की ओर जाते हुए उसका एक सहयात्री उसे बताने लगा - वहां, उस पेड़ के नीचे, जमींदार के सभी कागज, सभी दस्तावेज जला डाले गए थे और जमींदार हाथ बांधे खड़ा रहा था।



वाङ्चू ने बचपन में जमींदार का बड़ा घर देखा था, उसकी रंगीन खिड़कियां उसे अभी भी याद थी। दो-एक बार जमींदार की बग्घी को भी कस्बे की सड़कों पर जाते देखा था। अब वह घर ग्राम प्रशासन केंद्र बना हुआ था और भी बहुत कुछ बदला था। पर यहां पर भी उसके लिए वैसी ही स्थिति थी जैसी भारत में रही थी। उसके मन में उछाह नहीं उठता था। दूसरों का उत्साह उसके दिल पर से फिसल-फिसल जाता था। वह यहां भी दर्शक ही बना घूमता था। शुरू-शुरू के दिनों में उसकी आवभगत भी हुई। उसके पुराने अध्यापक की पहलकदमी पर उसे स्कूल में आमंत्रित किया गया। भारत-चीन सांस्कृतिक संबंधों की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में उसे सम्मानित भी किया गया। वहां वाङ्चू देर तक लोगों को भारत के बारे में बताता रहा। लोगों ने तरह-तरह के सवाल पूछे, रीति-रिवाज के बारे में, तीर्थों, मेलों-पर्वों के बारे में, वाङ्चू केवल उन्हीं प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर दे पाता जिनके बारे में भारत में रहते हुए भी वह कुछ नहीं जानता था।

कुछ दिनों बाद चीन में 'बड़ी छलांग' की मुहिम जोर पकड़ने लगी। उसके गांव में भी लोग लोहा इकट्ठा कर रहे थे। एक दिन सुबह उसे भी रद्दी लोहा बटोरने के लिए एक टोली के साथ भेज दिया गया था। दिन-भर वह लोग बड़े गर्व से दिखा-दिखाकर ला रहे थे और साझे ढेर पर डाल रहे थे। रात के वक्त आग के लपलपाते शोलों के बीच उस ढेर को पिघलाया जाने लगा। आग के इर्द-गिर्द बैठे लोग क्रांतिकारी गीत गा रहे थे। सभी लोग एक स्वर में सहगान में भाग ले रहे थे। अकेला वाङ्चू मुंह बाए बैठा था।

चीन में रहते, धीरे-धीरे वातावरण में तनाव-सा आने लगा और एक झुटपुटा-सा घिरने लगा। एक रोज एक आदमी नीले रंग का कोट और नीले ही रंग की पतलून पहने उसके पास आया और उसे अपने साथ ग्राम प्रशासन केंद्र में लिवा ले गया। रास्ते भर वह आदमी चुप बना रहा। केंद्र में पहुंचने पर उसने पाया कि एक बड़े-से कमरे में पांच व्यक्तियों का एक दल मेज के पीछे बैठा उसकी राह देख रहा है।

जब वाङ्चू उनके सामने बैठ गया, तो वे बारी-बारी से उसके भारत निवास के बारे में पूछने लगे - 'तुम भारत में कितने वर्षों तक रहे?...' वहाँ पर क्या करते थे?'...'कहां-कहां घूमे?' आदि-आदि। फिर बौद्ध धर्म के प्रति वाङ्चू की जिज्ञासा के बारे में जानकर उनमें से एक व्यक्ति बोला, "तुम क्या सोचते हो, बौद्ध धर्म का भौतिक आधार क्या है?"

सवाल वाङ्चू की समझ में नहीं आया। उसने आंखें मिचमिचाईं।

"द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी की दृष्टि से तुम बौद्ध धर्म को कैसे आंकते हो?"

सवाल फिर भी वाङ्चू की समझ में नहीं आया, लेकिन उसने बुदबुदाते हुए उत्तर दिया, "मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए उसके सुख और शांति के लिए बौद्ध धर्म का पथ-प्रदर्शन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। महाप्राण के उपदेश..."

और वाङ्चू बौद्ध धर्म के आठ उपदेशों की व्याख्या करने लगा। वह अपना कथन अभी समाप्त नहीं कर पाया था जब प्रधान की कुर्सी पर बैठे पैनी तिरछी आंखों वाले एक व्यक्ति ने बात काटकर कहा, "भारत की विदेशी-नीति के बारे में तुम क्या सोचते है?"

वाङ्चू मुस्कराया अपनी डेढ दांत की मुस्कान, फिर बोला, "आप भद्रजन इस संबंध में ज्यादा जानते हैं। मैं तो साधारण बौद्ध जिज्ञासु हूं। पर भारत बड़ा प्राचीन देश है। उसकी संस्कृति शांति और मानवीय सद्भावना की संस्कृति है. ...."

"नेहरू के बारे में तुम क्या सोचते हो?"

"नेहरू को मैंने तीन बार देखा है। एक बार तो उनसे बातें भी की हैं। उन पर पश्चिमी विज्ञान का प्रभाव है, परंतु प्राचीन संस्कृति के वह भी बड़े प्रशंसक हैं।"

उसके उत्तर सुनते हुए कुछ सदस्य तो सिर हिलाने लगे, कुछ का चेहरा तमतमाने लगा। फिर तरह-तरह के पैने सवाल पूछे जाने लगे। उन्होंने पाया कि



जहां तक तथ्यों का और भारत के वर्तमान जीवन का सवाल है, वाङ्चू की जानकारी अधूरी और हास्यास्पद है।

"राजनीतिक दृष्टि से तो तुम शून्य हो। बौद्ध धर्म की अवधारणाओं को भी समाजशास्त्र की दृष्टि से तुम आंक नही सकते। न जाने वहां बैठे क्या करते रहे हो! पर हम तुम्हारी मदद करेंगे।"

पूछताछ घंटों तक चलती रही। पार्टी-अधिकारियों ने उसे हिंदी पढ़ाने का काम दे दिया, साथ ही पेकिंग के संग्रहालय मे सप्ताह में दो दिन काम करने की भी इजाजत दे दी।

जब वाङ्चू पार्टी-दफ्तर से लौटा तो थका हुआ था। उसका सिर भन्ना रहा था। अपने देश में उसका दिल जम नहीं पाया था। आज वह और भी ज्यादा उखड़ा-उखड़ा महसूस कर रहा था। छप्पर के नीचे लेटा तो उसे सहसा ही भारत की याद सताने लगी। उसे सारनाथ की अपनी कोठरी याद आई जिसमें दिन-भर बैठा पोथी बांचा करता था। नीम का घना पेड़ याद आया जिसके नीचे कभी-कभी सुस्ताया करता था। स्मृतियों की श्रृंखला लंबी होती गई। सारनाथ की कैंटीन का रसोइया याद आया जो सदा प्यार से मिलता था, सदा हाथ जोड़कर 'कहो भगवान' कहकर अभिवादन करता था।

एक बार वाङ्चू बीमार पड़ गया था तो दूसरे रोज कैंटीन का रसोईया अपने-आप उसकी कोठरी में चला आया था - "मैं भी कहूं, चीनी बाबू चाय पीने नहीं आए, दो दिन हो गए! पहले आते थे, तो दर्शन हो जाते थे। हमें खबर की होती भगवान, तो हम डाक्टर बाबू को बुला लाते.... मैं भी कहूं, बात क्या है।" फिर उसकी आंखों के सामने गंगा का तट आया जिस पर वह घंटों घूमा करता था। फिर सहसा दृश्य बदल गया और कश्मीर की झील आंखों के सामने आ गई और पीछे हिमाच्छादित पर्वत, फिर नीलम सामने आई, उसकी खुली-खुली आंखें, मोतियों-सी झिलमिलाती दंतपंक्ति.... उसका दिल बेचैन हो उठा।

ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, भारत की याद उसे ज्यादा परेशान करने लगी। वह जल में से बाहर फेंकी हुई मछली की तरह तड़पने लगा। सारनाथ के विहार में सवाल-जवाब नहीं होते थे। जहां पड़े रहो, पड़े रहो। रहने के लिए कोठरी और भोजन का प्रबंध विहार की ओर से था। यहां पर नई दृष्टि से धर्मग्रंथों को पढ़ने और समझने के लिए उसमें धैर्य नहीं था, जिज्ञासा भी नहीं थी। बरसों तक एक ढर्रे पर चलते रहने के कारण वह परिवर्तन से कतराता था। इस बैठक के बाद वह फिर से सकुचाने-सिमटने लगा था। कहीं-कहीं पर उसे भारत सरकार-विरोधी वाक्य सुनने को मिलते। सहसा वाङ्चू बेहद अकेला महसूस करने लगा और उसे लगा कि जिन्दा रह पाने के लिए उसे अपने लड़कपन के उस 'दिवा-स्वप्न' में फिर से लौट जाना होगा, जब वह बौद्ध भिक्षु बनकर भारत में विचरने की कल्पना करता था।

उसने सहसा भारत लौटने की ठान ली। लौटना आसान नहीं था। भारतीय दूतावास से तो वीजा मिलने में कठिनाई नहीं हुई, लेकिन चीन की सरकार ने बहुत-से ऐतराज उठाए। वाङ्चू की नागरिकता का सवाल था, और अनेक सवाल थे। पर भारत और चीन के संबंध अभी तक बहुत बिगड़े नहीं थे, इसलिए अंत में वाङ्चू को भारत लौटने की इजाजत मिल गई। उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वह भारत में ही अब जिंदगी के दिन काटेगा। बौद्ध भिक्षु ही बने रहना उसकी नियति थी।

जिस रोज वह कलकत्ता पहुंचा, उसी रोज सीमा पर चीनी और भारतीय सैनिकों के बीच मुठभेड़ हुई थी और दस भारतीय सैनिक मारे गए थे। उसने पाया कि लोग घूर-घूरकर उसकी ओर देख रहे हैं। वह स्टेशन के बाहर अभी निकला ही था, जब दो सिपाही आकर उसे पुलिस के दफ्तर में ले गए और वहां घंटे-भर एक अधिकारी उसके पासपोर्ट और कागजों की छानबीन करता रहा।

"दो बरस पहले आप चीन गए थे। वहां जाने का क्या प्रयोजन था?"



"मैं बहुत बरस तक यहां रहता रहा था, कुछ समय के लिए अपने देश जाना चाहता था।" पुलिस-अधिकारी ने उसे सिर से पैर तक देखा। वाङ्चू आश्वस्त था और मुस्करा रहा था- वहीं टेढ़ी-सी मुस्कान।

"आप वहां क्या करते रहे?"

"वहां एक कम्यून में मैं खेती-बारी की टोली में काम करता था।"

"मगर आप तो कहते हैं कि आप बौद्ध ग्रथ पढ़ते हैं?"

"हां, पेकिंग में मैं एक संस्था में हिंदी पढ़ाने लगा था और पेकिंग म्यूजियम में मुझे काम करने की इजाजत मिल गई थी।"

"अगर इजाजत मिल गई थी तो आप अपने देश से भाग क्यों आए?" पुलिस- अधिकारी ने गुस्से में कहा।

वाङ्चू क्या जवाब दे? क्या कहे?

"मैं कुछ समय के लिए ही वहां गया था, अब लौट आया हूं...."

पुलिस-अधिकारी ने फिर से सिर से पांव तक उसे घूरकर देखा, उसकी आंखों में संशय उतर आया था। वाङ्चू अटपटा-सा महसूस करने लगा। भारत में पुलिस-अधिकारियों के सामने खड़े होने का उसका पहला अनुभव था। उससे जामिनी के लिए पूछा गया, तो उसने प्रोफेसर तान-शान का नाम लिया, फिर गुरूदेव का, पर दोनों मर चुके थे। उसने सारनाथ की संस्था के मंत्री का नाम लिया, शांतिनिकेतन के पुराने दो-एक सहयोगियों के नाम लिए, जो उसे याद थे। सुपरिंटेंडेंट ने सभी नाम और पते नोट कर लिए। उसके कपड़ों की तीन बार तलाशी ली गई। उसकी डायरी को रख लिया गया जिसमें उसने अनेक उद्धरण और टिप्पणियां लिख रहे थे और सुपरिंटेंडेंट ने उसके नाम के आगे टिप्पणी लिख दी कि इस आदमी पर नजर रखने की जरूरत है।

रेल के डिब्बे में बैठा, तो मुसाफिर गोली-कांड की चर्चा कर रहे थे उसे बैठते देख सब चुप हो गए और उसकी ओर घूरने लगे।

कुछ देर बाद जब मुसाफिरों ने देखा कि वह थोड़ी-बहुत बंगाली और हिंदी बोल लेता है, तो एक बंगाली बाबू उचककर उठ खड़े हुए और हाथ झटक-झटकर कहने लगे, "या तो कहो कि तुम्हारे देशवालों के विश्वासघात किया है, नहीं तो हमारे देश से निकल जाओ.... निकल जाओ.... निकल जाओ!"

डेढ़ दांत की मुस्कान जाने कहां ओझल हो चुकी थी। उसकी जगह चेहरे पर त्रास उतर आया था। भयाकुल और मौन वाङ्चू चुपचाप बैठा रहा। कहे भी तो क्या कहे? गोली-कांड के बारे में जानकर उसे भी गहरा धक्का लगा था। उस झगड़े के कारण के बारे में उसे कुछ भी स्पष्ट मालूम नहीं था और वह जानना चाहता भी नहीं था।

हां, सारनाथ में पहुंचकर वह सचमुच भावविह्लल हो उठा। अपना थैला रिक्शा में रखे जब वह आश्रम के निकट पहुंचा, तो कैंटीन का रसोइया सचमुच लपककर बाहर निकल आया - "आ गए भगवान! आ गए मेरे चीनी बाबू! बहुत दिनों बाद दर्शन दिए! हम भी कहें, इतने अरसा हो गया चीनी बाबू नहीं लौटे! और कहिए, सब कुशल-मंगल है? आप यहां नहीं थे, हम कहें जाने कब लौटेंगे। यहां पर थे तो दिन में दो बातें हो जाती थीं, भले आदमी ने दर्शन हो जाते थे। इससे बड़ा पुण्य होता है।" और उसने हाथ बढ़ाकर थैला उठा लिया, "हम दें पैसे, चीनी बाबू?

वाङ्चू को लगा, "जैसे वह अपने घर पहुंच गया है।

"आपका ट्रंक, चीनी बाबू, हमारे पास रखी है। मंत्रीजी से हमने ले ली। आपकी कोठरी में एक दूसरे सज्जन रहने आए, तो हमने कहा कोई चिंता नहीं, यह ट्रंक हमारे पास रख जाइए, और चीनी बाबू, आप अपना लोटा बाहर ही भूल गए थे। हमने मंत्रीजी से कहा, यह लोटा चीनी बाबू का है, हम जानते हैं, हमारे पास छोड़ जाइए।"

वाङ्चू का दिल भर-भर आया। उसे लगा, जैसे उसकी डावांडोल जिंदगी में



संतुलन आ गया है। डगमगाती जीवन-नौका फिर से स्थिर गति से चलने लगी है।

मंत्रीजी भी स्नेह से मिले। पुरानी जान-पहचान के आदमी थे। उन्होंने एक कोठरी भी खोलकर दे दी, परंतु अनुदान के बारे में कहा कि उसके लिए फिर से कोशिश करनी होगी। वाङ्चू ने फिर से कोठरी के बीचोंबीच चटाई बिछा ली, खिड़की के बाहर वही दृश्य फिर से उभर आया। खोया हुआ जीव अपने स्थान पर लौट आया।

तभी मुझे उसका पत्र मिला कि वह भारत लौट आया है और फिर से जमकर बौद्धग्रंथों का अध्ययन करने लगा है। उसने यह भी लिखा कि उसे मासिक अनुदान के बारे में थोड़ी चिंता है और इस सिलसिले में मैं बनारस में यदि अमुक सज्जन को पत्र लिख दूं, तो अनुदान मिलने में सहायता होगी।

पत्र पाकर मुझे खटका हुआ। कौन-सी मृगतृष्णा इसे फिर से वापस खींच लाई है? यह लौट क्यों आया है? अगर कुछ दिन और वहां बना रहता तो अपने लोगों के बीच इसका मन लगने लगता। पर किसी की सनक का कोई इलाज नहीं। अब जो लौट आया है, तो क्या चारा है! मैंने 'अमुक' जी को पत्र लिख दिया और वाङ्चू के अनुदान का छोटा-मोटा प्रबंध हो गया।

पर लौटने के दसेक दिन बाद वाङ्चू एक दिन प्रातः चटाई पर बैठा एक ग्रंथ पढ़ रहा था और बार-बार पुलक रहा था, जब उसकी किताब पर किसी का साया पड़ा। उसने नजर उठाकर देखा, तो पुलिस का थानेदार खड़ा था, हाथ में एक पर्चा उठाए हुए। वाङ्चू को बनारस के बड़े पुलिस स्टेशन में बुलाया गया था। वाङ्चू का मन आशंका से भर उठा था।

तीन दिन बाद वाङ्चू बनारस के पुलिस के बरामदे में बैठा था। उसी के साथ बेंच पर बड़ी उम्र का एक और चीनी व्यक्ति बैठा था जो जूते बनाने का

काम करता था। आखिर बुलावा आया और वाङ्चू चिक उठाकर बड़े अधिकारी की मेज के सामने जा खड़ा हुआ।

"तुम चीन से कब लौटे?"

वाङ्चू ने बता दिया।

"कलकत्ता में तुमने अपने बयान में कहा कि तुम शांतिनिकेतन जा रहे हो, फिर तुम यहां क्यों चले आए? पुलिस को पता लगाने में बड़ी परेशानी उठानी पड़ी है।"

"मैंने दोनों स्थानों के बारे में कहा था। शांतिनिकेतन तो मैं केवल दो दिन के लिए जाना चाहता था।"

"मैं भारत में रहना चाहता हूं...।" उसने पहले का जवाब दोहरा दिया।

"जो लौट आना था, तो गए क्यों थे?"

यह सवाल वह बहुत बार पहले भी सुन चुका था। जवाब में बौद्धग्रंथों का हवाला देने के अतिरिक्त उसे कोई और उत्तर नहीं सूझ पाता था।

बहुत लम्बी इंटरव्यू नहीं हुई। वाङ्चू को हिदायत की गई कि हर महीने के पहले सोमवार को बनारस के बड़े पुलिस स्टेशन में उसे आना होगा और अपनी हाजिरी लिखानी होगी।

वाङ्चू बाहर आ गया, पर खिन्न-सा महसूस करने लगा। महीने में एक बार आना कोई बड़ी बात नहीं थी, लेकिन वह उसके समतल जीवन में बाधा थी, व्यवधान था।

वाङचू मन-ही-मन इतना खिन्न-सा महसूस कर रहा था कि बनारस से लौटने के बाद कोठरी में जाने की बजाय वह सबसे पहले उस नीरव पुण्य स्थान पर जाकर बैठ गया, जहां शताब्दियों पहले महाप्राण ने अपना पहला प्रवचन किया था, और देर तक बैठा मनन करता रहा। बहुत देर बाद उसका मन फिर से ठिकाने पर आने लगा और दिल में फिर से भावना की तरंगे उठने लगीं।



पर वाङ्चू को चैन नसीब नहीं हुआ। कुछ ही दिन बाद सहसा चीन और भारत के बीच जंग छिड़ गई। देश-भर में जैसे तूफान उठा खड़ा हुआ। उसी रोज शाम को पुलिस के कुछ अधिकारी एक जीप में आए और वाङ्चू को हिरासत में लेकर बनारस चले गए। सरकार यह न करती, तो और क्या करती? शासन करनेवालों को इतनी फुरसत कहां कि संकट के समय संवेदना और सद्भावना के साथ दुश्मन के एक-एक नागरिक की स्थिति की जांच करते फिरें?

दो दिनों तक दोनों चीनियों को पुलिस स्टेशन की एक कोठरी में रखा गया। दोनों के बीच किसी बात में भी समानता नहीं थी। जूते बनानेवाला चीनी सारा वक्त सिगरेट फूंकता रहता और घुटनों पर कोहनियां टिकाए बड़बड़ाता रहता, जबकि वाङ्चू उद्भ्रांत और निढाल-सा दीवार के साथ पीठ लगाए बैठा शून्य में देखता रहता।

जिस समय वाङ्चू अपनी स्थिति को समझने की कोशिश कर रहा था, उसी समय दो-तीन कमरे छोड़कर पुलिस सुपरिंटेंडेंट की मेज पर उसकी छोटी-सी पोटली की तलाशी ली जा रही थी। उसकी गैरमौजूदगी में पुलिस के सिपाही कोठरी में से उसका ट्रंक उठा लाए थे। सुपरिंटेंडेंट के सामने कागजों का पुलिंदा रखा था, जिस पर कहीं पाली में तो कहीं संस्कृत भाषा में उद्धरण लिखे थे। लेकिन बहुत-सा हिस्सा चीनी भाषा में था। साहब कुछ देर तक तो कागजों में उलटते-पलटे रहे, रोशनी के सामने रखकर उनमें लिखी किसी गुप्त भाषा को ढूंढ़ते भी रहे, अंत मे उन्होंने हुक्म दिया कि कागजों के पुलिंदे को बांधकर दिल्ली के अधिकारियों के पास भेज दिया जाए, क्योंकि बनारस में कोई आदमी चीनी भाषा नहीं जानता था।

पांचवें दिन लड़ाई बंद हो गई, लेकिन वाङ्चू के सारनाथ लौटने की इजाजत एक महीने के बाद मिली। चलते समय जब उसे उसका ट्रंक दिया गया और उसने उसे खोलकर देखा, तो सकते में आ गया। उसके कागज उसमें नहीं थे, जिस पर वह बरसों से अपनी टिप्पणियां और लेखादि लिखता रहा था और जो

एक तरह से उसके सर्वस्व थे। पुलिस अधिकारी के कहने पर कि उन्हें दिल्ली भेज दिया गया है, वह सिर से पैर तक कांप उठा था।

"वे मेरे कागज आप मुझे दे दीजिए। उन पर मैंने बहुत कुछ लिखा है, वे बहुत जरूरी हैं।"

इस पर अधिकारी रूखाई से बोला, "मुझे उन कागजों का क्या करना है, आपके हैं, आपको मिल जाएंगे।" और उसने वाङ्चू को चलता किया। वाङ्चू अपनी कोठरी में लौट आया। अपने कागजों के बिना वह अधमरा-सा हो रहा था। न पढ़ने में मन लगता, न कागजों पर नए उद्धरण उतारने में। और फिर उस पर कड़ी निगरानी रखी जाने लगी थी। खिड़की से थोड़ा हटकर नीम के पेड़ के नीचे एक आदमी रोज बैठा नजर आने लगा। डंडा हाथ में लिए वह कभी एक करवट बैठता, कभी दूसरी करवट। कभी उठकर डोलने लगता। कभी कुएं की जगत पर जा बैठता, कभी कैंटीन की बेंच पर आ बैठता, कभी गेट पर जा खड़ा होता। इसके अतिरिक्त अब वाङ्चू को महीने में एक बार के स्थान पर सप्ताह में एक बार बनारस मे हाजिरी लगवाने जाना पड़ता था।

तभी मुझे वाङ्चू की चिट्ठी मिली। सारा ब्यौरा देने के बाद उसने लिखा कि बौद्ध विहार का मंत्री बदल गया है और नए मंत्री को चीन से नफरत है और वाङ्चू को डर है कि अनुदान मिलना बंद हो जाएगा। दूसरे, कि मैं जैसे भी हो उसके कागजों को बचा लूं। जैसे भी बन पड़े, उन्हें पुलिस के हाथों से निकलवाकर सारनाथ में उसके पास भिजवा दूं। और अगर बनारस के पुलिस स्टेशन में प्रति सप्ताह पेश होने की बजाय उसे महीने मे एक बार जाना पड़े तो उसके लिए सुविधाजनक होगा, क्योंकि इस तरह महीने में लगभग दस रूपए आने-जाने में लग जाते हैं और फिर काम में मन ही नहीं लगता, सिर पर तलवार टंगी रहती है।

वाङ्चू ने पत्र तो लिख दिया, लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि मुझ जैसे आदमी से यह काम नहीं हो पाएगा। हमारे यहां कोई काम बिना जान-पहचान



और सिफारिश के नहीं हो सकता। और मेरे परिचय का बड़े-से बड़ा आदमी मेरे कॉलेज का प्रिंसिपल था। फिर भी मैं कुछेक संसद-सदस्यों के पास गया, एक ने दूसरे की ओर भेजा, दूसरे ने तीसरे की ओर। भटक-भटककर लौट आया। आश्वासन तो बहुत मिले, पर सब यही पूछते - "वह चीन जो गया था वहां से लौट क्यों आया?" या फिर पूछते- "पिछले बीस साल से अध्ययन ही कर रहा है?"

पर जब मैं उसकी पाण्डुलिपियों का जिक्र करता, तो सभी यही कहते, "हां, यह तो कठिन नहीं होना चाहिए।" और सामने रखे कागज पर कुछ नोट कर लेते। इस तरह के आश्वासन मुझे बहुत मिले। सभी सामने रखे कागज पर मेरा आग्रह नोट कर लेते। पर सरकारी काम के रास्ते चक्रव्यूह के रास्तों के सामने होते हैं और हर मोड़ पर कोई-न-कोई आदमी तुम्हें तुम्हारी हैसियत का बोध कराता रहता है। मैंने जवाब में उसे अपनी कोशिशों का पूरा ब्यौरा दिया, यह भी आश्वासन दिया कि मैं फिर लोगों से मिलूंगा, पर साथ ही मैंने यह भी सुझाव दिया कि जब स्थिति बेहतर हो जाए, तो वह अपने देश वापस लौट जाए, उसके लिए यही बेहतर है।

खत से उसके दिल की क्या प्रतिक्रिया हुई, मैं नहीं जानता। उसने क्या सोचा होगा? पर उन तनाव के दिनों में जब मुझे स्वयं चीन के व्यवहार पर गुस्सा आ रहा था, मैं वाङ्चू की स्थिति को बहुत सहानुभूति के साथ नहीं देख सकता था।

उसका फिर एक खत आया। उसमें चीन लौट जाने का काई जिक्र नहीं था। उसमें केवल अनुदान की चर्चा की गई थी। अनुदान की रकम अभी भी चालीस रूपए ही थी, लेकिन उसे पूर्व सूचना दे दी गई थी कि साल खत्म होने पर उस पर फिर से विचार किया जाएगा कि वह मिलती रहेगी या बंद कर दी जाएगी।

लगभग साल-भर बाद वाङ्चू को एक पुर्जा मिला कि तुम्हारे कागज वापस किए जा सकते हैं, कि तुम पुलिस स्टेशन आकर उन्हें ले जा सकते हो। उन दिनों वह बीमार पड़ा था, लेकिन बीमारी की हालत में भी वह गिरता-पड़ता बनारस

पहुंचा। लेकिन उसके हाथ एक-तिहाई कागज लगे। पोटली अभी भी अधखुली थी। वाङ्चू को पहले तो यकीन नहीं आया, फिर उसका चेहरा जर्द पड़ गया और हाथ-पैर कांपने लगे। इस पर थानेदार रूखाई के साथ बोला, "हम कुछ नहीं जानते! इन्हें उठाओ और यहां से ले जाओ वरना इधर लिख दो कि हम लेने से इन्कार करते हैं।

कांपती टांगों से वाङ्चू पुलिंदा बगल में दबाए लौट आया। कागजों में केवल एक पूरा निबन्ध और कुछ टिप्पणियां बची थीं।

उसी दिन से वाङ्चू की आंखों के सामने धूल उड़ने लगी थी।

वाङ्चू की मौत की खबर मुझे महीने-भर बाद मिली, वह भी बौद्ध विहार के मंत्री की ओर से। मरने से पहले वाङ्चू ने आग्रह किया था उसका छोटा-सा ट्रंक और उसकी गिनी चुनी किताबें मुझे पहुंचा दी जाएं।

उम्र के इस हिस्से में पहुंचकर इंसान बुरी खबरें सुनने का आदी हो जाता है और वे दिल पर गहरा आघात नहीं करतीं।

मैं फौरन सारनाथ नहीं जा पाया, जाने मे कोई तुक भी नहीं थी, क्योंकि वहां वाङ्चू का कौन बैठा था, जिसके सामने अफसोस करता, वहां तो केवल ट्रंक ही रखा था। पर कुछ दिनों बाद मौका मिलने पर मैं गया। मंत्रीजी ने वाङ्चू के प्रति सद्‌भावना के शब्द कहे - 'बड़ा नेकदिल आदमी था, सच्चे अर्थों में बौद्ध भिक्षु था,' आदि-आदि। मेरे दस्तखत लेकर उन्होंने ट्रंक में वाङ्चू के कपड़े थे, वह फटा-पुराना चोगा था, जो नीलम ने उसे उपहारस्वरूप दिया था। तीन-चार किताबें थीं, पाली की और संस्कृत की। चिट्ठियां थीं, जिनमें कुछ चिट्ठियां मेरी, कुछ नीलम की रही होंगी, कुछ और लोगों की।

ट्रंक उठाए मैं बाहर की ओर जा रहा था जब मुझे अपने पीछे कदमों की आहट मिली। मैंने मुड़कर देखा, कैंटीन का रसोइया भागता चला आ रहा था। अपने पत्रों में अक्सर वाङ्चू उसका जिक्र किया करता था....



"बाबू आपको बहुत याद करते थे। मेरे साथ आपकी चर्चा बहुत करते थे। बहुत भले आदमी थे....."

और उसकी आंखें डबडबा गईं। सारे संसार में शायद यही अकेला जीव था, जिसने वाङ्चू की मौत पर दो आंसू बहाए थे।

"बड़ी भोली तबीयत थी। बेचारे को पुलिसवालों ने बहुत परेशान किया। शुरू-शुरू में तो चौबीस घंटे की निगरानी रहती थी। मैं उस हवलदार से कहूं, भैया, तू क्यों इस बेचारे को परेशान करता है? वह कहे, मैं तो ड्यूटी कर रहा हूं...!"

मैं ट्रंक और कागजों का पुलिंदा ले आया हूं। इस पुलिंदे का क्या करूं? कभी सोचता हूं, इसे छपवा डालूं। पर अधूरी पाण्डुलिपि को कौन छापेगा? पत्नी रोज बिगड़ती है कि मैं घर में कचरा भरता जा रहा हूं। दो-तीन बार वह फेंकने की धमकी भी दे चुकी है, पर मैं इसे छिपाता रहता हूं। कभी किसी तख्ते पर रख देता हूं, कभी पलंग के नीचे छिपा देता हूं। पर मैं जानता हूं किसी दिन ये भी गली में फेंक दिए जाएंगे।

## भीष्म साहनी

भीष्म साहनी- जन्म 8 अगस्त 1915।

जन्म स्थानः रावलपिंडी (अब पाकिस्तान में) हिन्दी-संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा घर में मिली। स्कूल में पढ़ते हुए उर्दू और अंग्रेजी का ज्ञान हुआ। गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर से अंग्रेजी में एम.ए.। पंजाब विश्वविद्यालय से पी.एच.डी.। बंटवारे के समय दिल्ली में थे, फिर इधर ही रह गये। पत्रकारिता और जननाट्‌य संघ से लगाव और सक्रियता। अंबाला, अमृतसर आदि के कालेजों में अध्यापन, फिर

दिल्ली विश्वविद्यालय के दिल्ली कॉलेज में अध्यापन। सन् पचपन से सन् बासठ तक मास्को के प्रगति प्रकाशन में अनुवाद-कार्य। टालस्टाय के महान उपन्यास 'रिसरेक्शन' का हिन्दी अनुवाद।

नयी कहानियाँ का संपादन। प्रगतिशील लेखक संघ से गहरा लगाव और 1973 के अंत में 1986 तक प्र.ले.सं. के राष्ट्रीय महासचिव। अफ्रेशियाई लेखक संघ से भी सम्बद्ध। प्रसिद्ध उपन्यास 'तमस' पर साहित्य अकादमी सम्मान। स्वातंत्र्योत्तर काल के समर्थ एवं प्रतिनिधि कथाकार।

प्रकाशित कहानी संग्रह-भाग्य-रेखा, पहला पाठ, भटकती राख, पटरियाँ, वाङ्चू, शोभा यात्रा, निशाचर, पाली।

उपन्यास- झरोखे, कडियाँ, तमस, बसंती, मय्यादास की मॉड़ी, कुंतो, नीलू नीलिमा नीलोफर।

नाटक-कबीरा खड़ा बाजार में, हानूस, माधवी, मुआबजे!

बालोपयोगी कहानियाँ- गुलेल का खेल, वापसी।

आत्मकथा- आज के अतीत।

निधन - सन् 2003 को दिल्ली में।



# हंसा जाई अकेला

**मार्कण्डेय**

वहां तक तो सब साथ थे, लेकिन अब कोई भी दो एक साथ नहीं रहा। दस-के-दसों-अलग खेतों में अपनी पिंडलियाँ खुजलाते, हाँफ रहे थे।

"समझाते-समझाते उमिर बीत गयी, पर यह माटी का माधो ही रह गया। ससुर मिलें, तो कस कर मरम्मत कर दी जाए आज।" बाबा अपने फूटे हुए घुटने से खून पोंछते हुए ठठा कर हँसे।

पास के खेत मे फँसे मगनू सिंह हँसी के मारे लोट-पोट होते हुए उनके पास पहुंचे।

"पकड़ तो नहीं गया ससुरा? बाप रे.... भैया, वे सब आ तो नहीं रहे हैं?" और वह लपक कर चार कदम भागे, पर बाबा की अडिगता ने उन्हें रोक लिया। दोनों आदमी चुपचाप इधर-उधर देखने लगे।

सावन-भादों की काली रात, रिम-झिम बूँदें पड़ रही थीं।

"का किया जाय, रास्ता भी तो छूट गया। पता नहीं कहाँ है, हम लोग।"

"किसी मेंड पर चढ़ कर, इधर-उधर देखा जाय। मेरा तो घुटना फूट गया है।"

"बुढ़वा कैसे हुक्का पटक के दौड़ा था।"

"अरे भइया, कुछ न पूछो।" मगनू हो-होकर के हँसने लगे। इसी बीच गाने की आवाज सुनाई पड़ी-

हंसा जाई अकेला, ई देहिया ना रही।

मल ले, धो ले, नहा ले, खा ले

करना हो सो कर ले,

ई देहिया.....

दस-एक बीघे के इर्द-गिर्द, अँधेरे और भय में धँसी हुई पूरी मंडली सिमट आयी। चेहरे किसी के नहीं दिखाई पड़े, पर हँसी के मारे सबका पेट फूल रहा था। उसी बीच थूक घोंटने की-सी आवाज करता हुआ, वह आया और जोर से हँसने लगा।

"होई गयी गलती भइया। मैं का जानूँ कि मेहरिया है। समझा, तुम में से कोई रूक गया है।"

मगनू ने कहा, "सरऊ, साँड़ हो रहे हो, अब मरद-मेहरारू में भी तुम्हें भेद नहीं दिखाई पड़ता?"

"नाहीं, भाय, जब ठोकर खा कर गिरने को हुये न, मैंने सहारे के लिए उसे पकड़ लिया। फिर जो मालूम हुआ, तो हकबका गया। तभी बुढ़वा ने एक लाठी जमा दी। खैर कहो निकल भागा।" उसने झुक कर अपनी टाँगों पर हाथ फेरा। नीचे से ऊपर तक झरबेरी के काँटे चुभे हुए थे।

"ससुरे को बीच में कर लो।" बाबा ने कहा।

मगनू कहने लगे,."चलो मेहरारू तो छू लिया, ससुरे की किस्मत में लिखी तो है नहीं।"

उसे लोग हंसा कहते हैं, काला-चिट्ठा बहुत ही तगड़ा आदमी है। उसके भारी चेहरे में मटर-सी आँखें और आलू-सी नाक, उसके व्यक्तित्व के विस्तार को बहुत सीमित कर देती हैं। सीने पर उगे हुए बाल, किसी भींट पर उगी हुई घास का बोध कराते हैं। घुटने तक की धोती और मारकीन का दुगजी गमछा उसका पहनावा है। वैसे उसके पास एक दोहरा कुर्त्ता भी है, पर वह मोके-झोंके या ठारी



के दिनों में ही निकालता है। कुर्त्ता पहन कर निकलने पर, गांव के लड़के उसी तरह उसका पीछा करने लगते हैं, जैसे किसी भालू का नाच दिखाने वाले मदारी का।

"हंसा दादा दुल्हा बने हैं दुलहा।" और नन्हें-नन्हें चूहों की तरह उसके शरीर पर रेंगने लगते हैं। कोई चुटइया उखाड़ता है, तो काई कान में पूरी-की-पूरी अँगुली डाल देता हैं। कोई लकड़ी के टुकड़े से नाक खुजलाने लगता है, तो कोई उसकी बड़ी-बड़ी छातियों को मुँह में लेकर, हंसा माई, हंसा माई, का नारा लगाने लगता है। इसी बीच एक मोटा सोटा आ जाता है, वह हंसा के कंधे से सटा कर लगा दिया जाता है और हंसा दो-एक बार उस पर अँगुलियाँ दौड़ा कर, अलाप भरते-भरते रूक कर कहता है, "बस न।"

लड़के चिल्ला पड़ते हैं, "नहीं, दादा। अब हो जाय।" कोई पैर से लटक जाता है, तो कोई हाथ से। फिर वह मगन हो कर गाने लगता है, "हंसा जाई अकेला, ई देहिआ ना रही....."

उस दिन बारह बजे रात को गाँव लौट कर, हंसा सीधे बाबा के दालान आया। लालटेन जलायी गयी। हंसा अपनी पिंडलियों में धँसे झरबेरी के काँटों को चुनने लगा। जैसे जाड़े मे चिल्लर पड़ जाते हैं, उसी तरह हंसा की टाँग में काँटे गड़े थे।

बाबा ने कहा, "कहाँ जाएगा ठोंकने -पकाने इतनी रात को, यहीं दो रोटी खा ले।" और झरबेरियों के काँटे देखे, तो उन्हें जैसे आज पहली बार हंसा की भीतरी जिन्दगी की झाँकी दिखाई दी। - इतनी खेत-बारी, ऐसा घर-दुआर, पर एक मेहरारू के बिना बिलल्ला की तरह घूमता रहता है। बाबा उठ कर हंसा की पिंडलियों से काँटे बीनने लगे।

उसे रतौंधी का रोग है! इसीलिए रात को वह गाँव से बाहर नहीं जाता। वह तो मजगवाँ का दंगल था, जो उसे खींच ले गया। बाबा सरताज हैं पहलवानों के, भला क्यों न जाते। बेर डूबा गयी वहीं, चले तो अँधेरा घिर आया था। पाँच मील

का रास्ता था। हंसा दस लोगों की टोली के बीच में चल रहा था। कई बार उसके पाँव लोगों से लड़े, तो लोगों ने गालियाँ दीं और उसे पीछे कर दिया। हंसा गालियों का बुरा नहीं मानता। वह बहुत सारे काम गाली सुनने के लिए ही करता है। गाँव के बूढ़ों-बुज़ुर्गों की इस दुआ से उसे मोह है।

वह पीछे-पीछे आ रहा था। रास्ते में एक गाँव आया, तो गलियों के घुमाव फिराव में वह जरा पीछे रह गया। एक झोपड़ी के आगे एक बूढ़ा बैठा हुक्की गरमाये था। उसकी जवान बहू किसी काम से बाहर आयी थीं, दस आदमियों की लम्बी कतार देख कर बगल में खड़ी हो गयी। फिर हंसा के आगे से वह निकल जाने को हुई, तो संयोग से हंसा के पाँव उससे लड़ गये और अँधेरे मे गिरते-गिरते वह हंसा के बाजुओं में आ गयी। बहू चीख उठी। बूढ़ा हुक्की फेंककर डंडा लिये दौड़ा। लेकिन हंसा निकल गया। दूसरा डंडा उसकी बहू की ही पीठ पर पड़ा। यह गये, वह गये और सारी मण्डली रात के अँधेरे में खो गयी। सबकी आँखें साथ दे रही थीं पर हंसा खाइयों-खंदकों मे गिरता-पड़ता भागता रहा।

बाबा काँटा बीनते जा रहे थे। हंसा अपनी मटर-सी आँखों को बार-बार अपने भालू के-से बालों में धँसता-हाथ को काँटे मिल जाते, पर आँखें न खोज पातीं। रह-रह कर रास्ते की वह घटना उसके सामने नाच जाती। -क्या सोचती होगी बेचारी? और वह बाबा की ओर देखने लगा।

"बड़ी चूक हो गयी, भइया। समझो, निकल भागे किसी तरह नहीं तो जाने का कहती दुनिया? हमें तो यही सोच कर और लाज लग रही थी कि तुम भी साथ थे।"

"अरे, यह क्या कहा है, हंसा।"

"यही कि आपके साथ ऐसे लोग रहते हैं। कितना नाँव-गाँव है। कितनी हँसाई होगी"



हंसा कभी कोई बात सोचता नहीं पर आज बार-बार उसका दिमाग उलझ जाता था। अगर भइया चाहें तो....

इसी बीच आजी पूड़ियाँ थाल में परसे बाहर आयीं। हंसा हड़बड़ा कर उठ गया। बहुत दिन पर भउजी को देखा था। रात न होती, तो वह बाहर क्यो आती। उसने सलाम किया। थाल थमने ही जा रहा था कि उन्होंने मजाक कर दिया; "कहीं डड़वार डाके रहे का बबुआ, जो काँट विनाय रहा है।"

"कुछ न कहो भउजी।" हंसा कह ही रहा था कि बाबा बोला उठे, "फँसी गया था हंसवा आज, वह तो खैर मनाओ, बच गया, नहीं वह पड़ती कि याद करता! एक औरत को इसने.....!"

"अब हँसी-ठिठोली छोड़ कर, बियाह करो। जब तक देह कड़ी है दुनिया-जहान है, नहीं तो रोटी के भी लाले पड़ जाएँगे! कहते क्यों नहीं अपने भइया से? गूँगे-बहरे, कुत्ते-बिल्ली सबका तो बियाह रचाते रहते हैं, पर तुम्हारा ध्यान नहीं करते। खेत-बारी, जगह, जमीन सब तो है।"

बाबा कुछ नहीं बोले, लगा सेंध पर धरे गये हों। आजी जाने लगीं, तो बाबा ने तेल भेजने को कहा।

तेल की कटोरी लेकर हंसा बाबा के पैताने जा बैठा।

"अपने पैरों में लगाओ न हंसा! दरद कम हो जाएगा।"

"गजब कहते हो, भइया। अरे लगाया भी है कभी तेल।"

और बाबा की मोटी रान पर झुक गया।

"मनों तेल पी गयीं ये रानें। कितने तो तेल ही लगा कर पहलवान हो गये. ..." हंसा कहने लगा।

बाबा चुप पड़े रहे। ओरउती से लटती हुई लालटेन में गुल पड़ गया था धुएँ से उसका शीशा काला पड़ चुका था और कालिख ऊपर उड़ने लगी थी।

हंसा उठा और बत्ती बुझा कर लेट गया।

भउजी की बात हंसा के कानों में गूँज रही थी, - जब तक देह कड़ी हैं. ... हंसा ने करवट लेते लेते बूढ़े के डंडे की चोट का हाथ से अंदाज लिया और भुनभुनाने लगा, "जान-बुझकर तो कुछ नहीं देखते। यह रतौन्हीं साली जो न कराये।" उसने इधर-उधर आँख चलायी, पर कुछ नहीं-सब मटमैला, धुंध।

पाला पड़े चाहे पत्थर; काम से खाली होकर हंसा बाबा के पास जरूर आएगा। कभी देश-विदेश की बात कभी महाभारत-रामायण की बात। लेकिन 'गन्ही महत्मा' की बात में उसे बड़ा मजा आता है। किसी ने उसे समझा दिया है कि गाँधी जी अवतारी पुरूष थे।

उस दिन दालान में कोई नहीं था। शाम का वक्त था। बाबा की चारपाई के पास बोरसी में गोहरी सुलग रही थी। जानवर मन मारे अपनी नाँदों में मुँह गाड़े थे। रिम-झिम पानी बरस रहा था। कलुआ पाँवों से पोली जमीन खोद कर, मुकुड़ी मारे पड़ा था। बीच-बीच में जब कुटकियाँ काटतीं, तो वह कूँ....कूँऽ करके, पाँवों से गर्दन खुजाने लगता। इसी समय एक आदमी पानी से लथ-पथ, कीचड़ में अपनी साईकिल को खींचता आया और जैसे ही साइकिल खड़ी करके दालान में घुसने लगा, हंस ने कहा, "जै हिन्नि की, गनेश बाबू।"

"जै हिन्द हंसा भाई, जै हिन्द।"

उसने अपने झोले से नोटिसों का पुलिन्दा निकाल कर, बाबा के आगे रख दिया। हंसा बाबा की गोड़वारी बैठ गया। बाबा नोटिस पढ़ कर बोले, "कैसे होगा, बरखा-बूनी का दिन है।"

हंसा कुछ समझ नहीं सका। जब उसका पेट फूलने लगा, तो वह बोल बैठा, "का है भइया।"

"कोई सुशीला बहिन आज यहां गांधी जी का संदेश सुनाना चाहती हैं। जिला कमेटी का नोटिस है।"



"का लिखा है नोटिस में!" हंसा मुँह बा कर उन्हें देखते हुए बोला, तनी बाँच दो, भइया। गवनई भी न होगी।"

"अरे वही, जागा हो बलमुआ गांधी टोपी वाले..."

हंसा ने खूँटी पर टँगी ढोलक उतारकर गले मे लटका ली और एक ओर पड़े फटहे झंडे को ले कर लाठी में टांग लिया। दो बार ढोलक पीटी। फिर, - जागा हो बलमुआ गन्हीं टोपी वाले आय गइलैं....टोपी वाले आय गइलैं.... गा कर, ढोलक पर धड़म्-धड़म् घुम्-घुम्....धढ़म-धड़ाम घुमघुम्....

मिनटों में ही पचासों लड़के आ जुटे। चल पड़ा हंसा का जुलूस।

"सुसिल्ला की गवनई, जौने में बीर जवाहिर की कहानी है...."

"दल-के-दल लरिका-बच्चा सब...बोलो, बोलो, गन्हीं बाबा की जय!"

और फिर, जागा हो बलमुआ...और हंसा की ढोलक गमकती रही।

क्षण भर में ही जैसे सारे गाँव को हंसा ने जगा दिया हो। जिधर से देखो, लोग चले आ रहे हैं। लड़के गाँधी बाबा को क्या जानें, उनके लिए तो हंसा ही सब कुछ था। एक उनके आगे झंडा तानकर कहता, "बोलो, हंसा दादा की. ...!"

कुछ कहते, 'जै', और कुछ 'छै', फिर जोर की हँसी चारों ओर छा जाती।

कुछ बूढ़े नाक फुलाते हुए, सुरती की नास ले, अपने सुतलियों के ढेरे पर चक्कर दे कर कहते, "मिल गया ससुर को एक काम। गन्ही बाबा का गायक काहे नहीं हो जाता। कौनों कँगरेसी जात-कुजात मेहरारू मिल जाती। गन्ही का कोई विचार थोड़े है, चमार-सियार का छुआ-छिरका तो खाते हैं।"

हंसा को फुरसत नहीं है। बाबू साहब का तकरवोस और बाबू राम का चमकउआ चादर तो आना ही चाहिए।

बाबा चुपचाप बैठे हैं। धीरे-धीरे गाँव सिमटता आ रहा है। दालान भरता

जा रहा है। अँधेरे की गाढ़ी चादर फैलती जा रही है। रिम-झिम पानी बरस रहा है। चार लालटेनें जल रही हैं।

"बुला तो लिया पानी-बूनी में। हल्ला भी पूरा मचा दिया। पर ठहरेंगी कहाँ सुशीला? कुछ खाना-पीना..."

"आने पर देख लेंगे। अपना घर तो खाली ही है। खाने की भी चिन्ता न करो। घी है ही, पूड़ी-ऊड़ी बन जाएगी।" कहता हुआ हंसा बाहर निकला।

हंसा सँभाल सँभाल कर चल रहा था - अँधेरे की वहीं धुंध, वही मटमैलापन। आखिर वह क्या करे कि उसे दिखाई पड़ने लगे। वह एक बच्चे की सहायता से किसी तरह बाबू साहब के दलान के सामने पहुँच गया। पहाड़ से तख्त की सिर पर बिड़ई रख, उठा लिया और किसी तरह रेंगता-रेंगता बाबा के दालान आ पहुँचा।

बाबा बहुत बिगड़े, "ससुरा मरने पर लगा है।"

हंसा को यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि सुशीला जी आ गयी हैं। वह बाबा के पास बैठ, उनकी बातें बड़े ध्यान-पूर्वक पीने लगा।

सुशीला जी हंसा के ठीक सामने बैठी थीं। लालटेन जल रही थी, पर वह देख नहीं पाता था कि वह कैसी हैं!

-आवाज तो कड़ी है और यह गन्ने के ताजे रस-सी महक कहाँ से आ रही है।?

हंसा खो गया। सुशीला का साल भर पहले का गाना, 'जागा हो बलमुआ गाँधी टोपी वाले आय गइलैं.... उसके होठों पर थिरक उठा। साँवला-साँवला-सा रंग था, लम्बा छरहरा बदन, रूखे-रूखे से बाल और तेज आँखे। कैसा अच्छा गाती थी!-हंसा सोचता रहा।

इसी बीच कीर्तन-प्रवचन हो गया। सुशीला जी ने भाषण भी दिया और सारी ग्राम-मंडली, (बिन विधा के भारत देश, दिन-दिन होती हे तेरी ख्वारी रे।'



गुनगुनाती वापस जाने लगी। हंसा खोया बैठा रहा। खंजड़ी की डिम्-डिम् और झांझ की झंकार उसके कानों में गूँजती रही। सुशीला का पैना स्वर उसके हृदय को बेधता रहा, और दंगल की शामवाली घटना का भी उसे बार-बार ध्यान आता रहा। - देखो तो इन आँखों की जो न करा दें।- उसकी नसों में रक्त की झनझनाहट भर जाती। एकाएक, 'गन्ही महात्मा की....' सुनकर, वह चौंक पड़ा और जोर से चिल्ला पड़ा, 'जय...जय...'

बहुत रात बीत चुकी है। हंसा के घर में पूड़ियां छानने की तैयारी हो रही है। आटा गूँधा जा रहा है। तरकारी कट रही है। आग जल रही है। पर भीतर के कमरे की भंडरिया से घी कौन निकाले? हंसा वहीं इधर-उधर डोलता है। उसकी आँखें सुशील जी की आवाज का पीछा कर रही हैं। सुशीला जी कभी-कभी संकोच में पड़ती हैं, पर हंसा के चौड़े सीने पर उगे हुए बालों के जंगल में वह खो जाती हैं। कितना पौरूषी आदमी है।

लेकिन हंसा के आगे वह छाया-मात्र हैं, जिसका बस रूप नहीं है आगे, और सब कुछ हैं। - मीठी-मीठी, थकनभरी आवाज और डाल के ताजे फल जैसी सुगंध। वह बड़ा खुश है। एक औरत के रहने से घर कैसा हो जाता है। कितना अच्छा लगता है।....वह सोच ही रहा है कि घी की माँग होती है। हंसा उठता है। पर चारपाई से ठोकर खा कर गिर पड़ता है। सुशीला जी दौड़ कर उसे उठाती हैं। हंसा मारे लाज के डूब जाता है।

धत्, तेरी आँखों की। और वह जल्दी से उठ खड़ा होता है।

सुशीला जी उसका हाथ पकड़े थीं, "चोट तो नहीं आयी।"

घुमची की तरह की आँखें मुलमुला कर हंसा हँसता है। उसके रोएँ भभर आई है, उसका कलेजा धड़कने लगता है।

कहार कहता है, "हंसा दादा को रतौन्ही हैं, रतौन्ही।"

"रतौधी! तो बताओ, कहाँ है घी? मैं चलती हूँ, साथ।"

मेनका के कंधे पर विश्वामित्र के उलम्ब बाहु। सावन की अंधियारी और बादलों की रिम-झिम। बीच-बीच के हवा का सर्द झोंका।

दोनों आँगन पार करते बूँदों में भींगते हैं। पीछे से आवाज आती है, लालटेन दूँ?

"एक ही तो है रहने दो, काम चल जाएगा।"

घर की अँधेरी भँड़रिया। दोनों भटकते हैं। हंसा कुछ बताता है।

सुशीला जी कुछ सुनाती है। आँख कुछ देखती है। हाथ कुछ टटोलते हैं। बहरहाल, पता नहीं कहाँ क्या है?

अँधेरे में जैसे आँख, तैसे बेआँख। दोनों को सहारा चाहिए। कभी वह लुढ़कता है, कभी वह लुढ़कती हैं और दोनों दृष्टिवान हो जाते हैं-दिव्यदृष्टिवान।

सुबह कुत्तों की झाँव-झाँव के बीच, कारवाँ आगे बढ़ गया। बैलों की घंटियाँ टुनटुनायीं, भुजंगे बोले और बाबा ने उठ कर अपना छप्पन पतरीवाला बाँस का छाता छठाया और ताल की ओर चल पड़े, निरूआही हो रही थी।

रास्ते में मगनू सिंह मिल गये, "लग गयी पार हंसवा की नाव!"

"क्या हुआ?"

"कुछ न पूछो, भइया। तुम्हें खबर ही नहीं, सारे गाँव में रात ही खबर फैल गयी। यह ससुरा दुआरे बैठाने-लायक नहीं है। कहते थे कि कोई राँड़-रेवा मढ़ दो इसके गले। कल रात बाबू साहब के यहां पंचाइत हुई। तय हुआ कि अब सभा-सोसाइटी की चौकी, गाँव में नहीं धरी जाएगी। औरत-सौरत का भासन यहाँ नहीं होने पाएगा। बहू-बेटियों पर खराब असर पड़ता है। बात यह है भइया कि राजा साहब ओट लड़ रहे हैं, कांगरेस के खिलाफ। बाबू साहब उनको ओट दिलाना चाहते हैं। आपके डर से कुछ कह तो सकते न थे। अब मौका मिला है।

"कैसा मौका?" बाबा झुँझला कर बोले।



अगनू आकर उनके छाते के नीचे खड़े हो गये। बोले, "उलट दिया हंसवा ने कल रात!"

"क्या मतलब?"

"सच मानो, खाना-पीना नहीं हुआ। जब बहुत देर होने लगी, तो बंगा ने लालटेन ले कर देखा, और बाहर निकल कर, सारे गाँव में ढिंढोरा पीट दिया। अभी तो सर-सामान ले कर, घाट तक पहुँचाने गया है।"

बाबा चुपचाप आगे बढ़ गये। इस तरह की बात सुन कर बरदाश्त करना उनके लिए कठिन है, पर न जाने क्यों उन्हें हँसी आ रही थी। तभी दूर हंसा की भारी आवाज सुनाई दी?

-जग बेल्हमौलू जुलूम कइलू ननदी....जग....

बरम्हा के मोहलू, बिसुनू के मोहलू

सिव जी के नचिया नचौलू मोरी ननदी....जग....।

बाबा खड़े थे। हंसा धीरे-धीरे पास आ गया। अँधेरा छँट गया था। हंसा डर गया। -कैसे खड़ा हूँ भइया के सामने, कैसे?

कुछ देर दोनों चुप रहे। बाबा ने देखा, हंसा के हाथों में खद्दर के कुछ कपड़े थे, पर उसकी निगाह नीचे जमीन में धँसी थी।

"हंसा!" बाबा बड़ी कड़ी आवाज में बोले, "जहाँ पहुँच गये हो, वहाँ से वापस नहीं आना होगा!"

"भइया, बोटी-बोटी कट जाऊँगा, पर यह कैसे हो सकता है!"

हंसा जाने लगा, तो बाबा ने कहा, "घर जा कर सीधा-समान बाँधे आना। आज मछरी पकड़वाऊँगा, वहीं खावाँ पर बनेगी।"

"अच्छा, भइया!" कह कर हंसा अपनी बटन-सी आँखों को पोंछता हुआ चला गया।

गाँव में चुनाव की धूम मची थी। बाबू साहब बभनौटी के साथ कांग्रेस का विरोध कर रहे थे। उनके पेड़ों पर इश्तिहार टांग दिये जाते, तो उनके आदमी उखाड़ देते। किसान बुलवाये जाते, उन्हें धमकाया जाता। खेत निकाल लेने की, जानवरों को हँकवा देने की बातें कही जातीं और हंसा-सुशीला की कहानी का प्रचार किया जाता, भ्रष्ट हैं सब! इनका कोई दीन-धरम नहीं है! गन्ही तो तेली है।....

और हंसा अब पूरा स्वयंसेवक बन गया है। खद्दर का कुर्ता-धोती और हाथ की लम्बी लाठी में तिरंगा। बगल में बिगुल लटका रहता है और वह बापू के संदेश की परची बाँटता फिरता है।

"बाबू साहब जो कहें मान लो! पूड़ी-मिठाई राजा के तम्मू में खाओं! खरचा खोराक बाबू साहब से लो और मोटर में बैठो! लेकिन कँागरेस का बक्सा याद रखो! वहाँ जा कर, खाना-पीना भूल जाओ? कँगरेस तुम्हारे राज के लिए लड़ती है। बेदखली बंद होगी! छुआछुत बंद होगा। जनता का राज होगा। एक बार बोलो, बोलो गन्हीं महात्मा की जय!....जय....

घर-घर में, कंठ-कंठ में सुशीला के मनोहर गानों की धुनें गूँजने लगीं। गाँव के बच्चे हंसा दादा के पीछे, हाथों में अखबार की रंग कर बनायी झंडियां लिये इधर-से-उधर चक्कर लगाया करते थे।

उन्हीं दिनों गाँव में रामलीला होने को थी। बाबू साहब की पार्टी के राम-लक्ष्मण बने थे। पर रावण बनने वाला कोई नहीं मिलता था। लोग कहते, रावण बनने वाला मर जाता है। कोई तैयार न होता था।

बाबा दशमी के मालिक थे। हंसा कैसे बरदाश्त करता कि लीला खराब हो। ऊपर से सुशीला जी लीला खत्म होने पर भाषण करने वाली थीं। हंसा सोचने लगा, क्या हो? सहसा लड़कों ने तालियाँ बजायीं और हंसा दादा को घेरा लिया। जल्दी-जल्दी काला चोंगा रावण के गले में डाल दिया गया। सिर पर पगड़ी बाँध



कर दस मुँह वाला चेहरा हंसा दादा ने पहन लिया। हाथ में तलवार ली और गरज कर बोले, "मैं रावण हूँ कहां है दुष्ट राम?"

एक बच्चे ने अपनी छड़ी में लगा हुआ तिरंगा झट दशानन के सिर पर खोंस दिया और सब लोग जोर से हँसने लगे। उसी भीड़ में से किसी ने चिल्ला कर कहा, "गन्हीं महात्मा की जय...!"

रावण भाषण देने लगा, "भाइयों! राम राजा था। देखो, छोटी जात का कोई कभी राम नहीं बनने पाता है। राक्षस सब बनते हैं। बिराहिम, कालू, भुलई, फेद्दर, सभी की पालटी है, हमारी। यह जनता की लड़ाई है। बोल दो धावा।" और हंसा हाथ-पाँव हिलाता आगे को चल पड़ा। पीछे-पीछे सारी राक्षसी सेना। किसानों के बंदर बने लड़के भी अपना चेहरा लगाये, गदा लिये, जनता की पार्टी में शामिल हो गये। राम बेचारे अकेले बैठे रह गये। रामायण बंद हो गयी। तिवारी चिल्लाने लगा, पर कौन सुनता है!

"गन्हीं महतमा की जय!"

बाबा हँसी के मारे लोट-पोट हो रहे थे। उनसे कुछ कहते ही नहीं बनता था। राक्षसी सेना के काले रंग में रंगे मुँह और हाथों में तिरंगे झंडे देख कर, लोग राम के लिए खरीदी मालाएँ, हंसा के ही ऊपर फेंकने लगे।

इसी बीच सुशीला जी तीर की तरह भीड़ में घुसीं, "कौन बना है रावण? क्या तिरंगा इसीलिए है?" उन्होंने हाथ से चेहरे को ठेल दिया। सहसा हंसा को देख कर, वह पसीने-पसीने हो गयीं।

"यही स्वयंसेवक हो। बदनाम करते हो झंडे को। बंद करो यह सारा तमाशा, होने दो रामलीला ठीक से।"

सब लोग अपनी जगहों पर लौट गये। बाबा चुपचाप खड़े थे। सुशीला जी अपना झोला सँभाले उनकी बगल आ खड़ी हुईं।

लड़ाई चलती रही। नगाड़े और ढोल बजते रहे। संठे के रँगे हुए तीर छूटते

रहे। पर रावण मरे, तो क्यों मरे। चौपाई बार-बार टूटती। व्यास बार-बार कहता, "सो जाओ।" पर कौन सुनता है। हंसा की सेना क्यों हारे?

इसी समय लक्ष्मण को जमीन से ठोकर लगी। वह लुढ़क पड़े। उनका मुकुट गिर गया। आगे पीछे दौड़ते-दौड़ते राम को चक्कर आ गया, और उनको उल्टी होने लगी। सारे मेले में शोर मच गया, "जीत गयी जनता की फौज। हंसा दादा की पाल्टी ऐसे ही वोट जीत लेगी।"

इधर दिन रात सुशील जी खँजड़ी बजाती, घूमती रहतीं और रात हंसा के घर लौट आतीं।

दूसरे दल के लोगों ने चिट्ठियाँ भिजवायीं। -सुशीला जी को यहाँ से बुला लिया जाए। जनता पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है।....चुनाव के दो दिन पहले उन्हें नोटिस मिली कि वह बापू के आदर्शों को तोड़ रही हैं, इसलिए उन्हें काम से अलग किया जाता है।

वह हँस पड़ी थी, ईश्वर ने पति से अलग किया और अब बापू के नकली चेले उन्हें जनता से अलग करना चाहते हैं!

उनकी खँजड़ी और जोर से बजने लगी। उनका स्वर और तेज हो गया।

चुनाव के दो दिन रह गये। सुशीला जी बीमार पड़ गयीं। हंसा के घर में उनका डेरा पड़ा था। वह बुखार की जलन सह रहीं थीं, पर किसी को अपने पास बैठने नहीं देती थीं। रात जब हंसा लौटता, तो वह उससे कहतीं, "तुम सुनाओ अपना भजन।" हंसा बिना कुछ सोचे-विचारे गाने लगता।

'हंसा जाई, अकेला, ई देहिया ना रही....'

फिर प्रचार का समाचार ले कर, वह उसके रोयें भरे सीने में मुँह छिपा लेतीं।

चुनाव का दिन-आ गया, लेकिन सुशीला जी बिस्तर से नहीं उठीं। किसानों की जय-जयकार करती हुई टोलियाँ गुजरतीं, तो वह अपने बिस्तर में तड़प कर



रह जातीं। हंसा उन्हें बहुत रोकता, पर वह उठ कर उनसे मिलतीं। बाबा बहुत समझाते, पर न मानतीं।

चुनाव के दिन डोली में उठा कर वह पोलिंग पर ले जायी गयीं। वहीं पेड़ के नीचे बैठे-बैठे उन्हें कई बार चक्कर आया और बेहोश हुईं।

ओट पड़ता रहा। किसान राजासाहब के कैम्प में खाना खाते, उनकी मोटर में आते, पर ओट डालते कांग्रेस के बक्स में। उन्हें सुराज मिलेगा, उन्हें आजादी मिलेगी; यही सब सोचते थे।

तीसरे पहर जोर की बारिश आयी। सुशीला जी छाया में जाते जाते भींग गयीं। बाबा ने उन्हें डोली में बैठा कर, घर भेज दिया। चुनाव चलता रहा।

हंसा भूत की तरह काम में जुटा था। बहुत देर पर कभी उसे सुशीला की याद आती, तो मन को दबा कर फिर परची बाँटने लगता। बहुत कम ओट राजा के बक्से में गिरे। शाम हो गयी। राजा का तम्बू हारे हुए कर्मचारियों से भर गया। हंसा उन्हें देख कर जाने क्यों क्रोध से जल रहा था। उसे बार-बार सुशीला की याद आ रही थी।

"भइया, कुछ और होना चाहिए।"

"मुझे चले जाने दो, हंसा।"

-और पच्चीस-तीस लोग हँसिया ले कर राजा साहब के तम्बू की डोरियों के पास खड़े हो गये कौन जाने क्यों खड़े हैं! हंसा ने विजय का बिगुल फूँका और सारा तम्बू एक मिनट में जमीन पर था। जोर का शोर मचा। किसानों ने जय-जयकार की, और लोग अपने घरों को वापस चले गये।

सुशीला जो को निमोनिया हो गया। उनकी साँस फँस गयी। बाबा रात-दिन उनके पास बैठे रहे। हंसा ने जमीन-आसमान एक कर दिया, पर फायदा न हुआ। वह बार-बार महात्मा जी का नाम लेतीं, हंसा से उनका भजन सुनतीं और आँखें बन्द कर लेती।

चुनाव का नतीजा सुनाया गया, तो नेता लोग मोटर पर चढ़ कर सुशीला

जी से माफी माँगने आये। पर सुशीला जी ने मुँह फेर लिया, जैसे वह कहती हों, – मैं तुम्हारे करतब जानती हूँ।

और हंसा उठ कर बाहर चला गया।

अन्त में एक दिन सुशीला जी की साँस बन्द हो गयी। हाय मच गयी। बच्चे फूट-फूट कर रोने लगे। हंसा ने बकरी के लिये पत्ता तोड़ने वाली लग्गी में तिरंगा टाँग कर, हाथों से ऊपर उठा लिया और अपना बिगुल फूँकने लगा। उसकी हँसी लोगों के मन में भय पैदा करने लगी पर वह हंसाता रहा।

आज तक, गन्हीं महात्मा, जवाहिरलाल और जनता की फउज़, सही तीन शब्द वह जानता है। लड़के अब भी उसे उसी तरह घेरे रहते हैं। पर पहाड़ से तखत को उठा नहीं सकता। हाँ, उठाकर ले जाने वालो को देख कर वह जोर-जोर से हँसता है और घंटों हँसता रहता है।

उसके खेत में घास उगी है। मकान ढह गया है। पर लग्गी में फटहा तिरंगा और सुशील का दिया हुआ बिगुल अब भी टँगा रहता है। कभी-कभी वह गन्दे कागज दिवारों पर सटाता फिरता है और कभी सारे गाँव की गलियाँ साफ कर आता है।

आजादी मिली, तो उसे रुपये मिले। राजनीतिक पीड़ित था, वह। पर वह रूपयों की गड्डी ले कर हँसता रहा, और फिर उन्हें गाँव की दीवारों में एक-एक कर टाँग आया।

दो बार लोग उसे आगरे ले गये। पर कुछ ही दिनों बाद फिर ‘हंसा जाई अकेला’ का स्वर गाँव की फिजाँ में गूँजने लगता।

अब भी कभी-कभी वह आजादी लेने की कसमें खाता है। उसके तमतमाये हुए चेहरे की नसें तन जाती हैं और वह अपना बिगुल फूँकता हुआ, कभी धान के खेतों, कभी ईख और मकई के खेतों की मेड़ों पर घूमता हुआ, गाया करता हैं...

‘हंसा जाई अकेला....’



## मार्कण्डेय

जन्म 2 मई 1930 को, गाँव-बराई, केराकत तहसील, जिला जौनपुर। गाँव में ही प्रारम्भिक शिक्षा, फिर प्रतापगढ़ में प्रताप बहादुर कॉलेज से इंटर। इसके बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय से विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा।

प्रतापगढ़ में रहते हुए किसान-आंदोलन से सम्पर्क और उसमें शिरकत। इसी प्रसंग मे इन्होंने भूमिहीन मजदूरों और गरीब किसानों की दुर्दशा एवं पीड़ा को देखा और उससे गहरे प्रभावित। यह प्रभाव उनकी अनेक कहानियों में दिखाई पड़ता है। स्वतंत्रयोत्तर भारत के एक प्रमुख कहानीकार, जिन्होंने हिन्दी कहानी को नया आयाम दिया।

कहानी-संग्रह – पान-फूल, महुए का पेड़, हंसा जाई अकेला, भूदान, माही, सहज और शुभ, बीच के लोग।

उपन्यास – सेमल के फूल और अग्निबीज।

कविता संग्रह – सपने तुम्हारे थे।

एकांकी-संग्रह – पत्थर और परछाइयाँ।

आलोचना-पुस्तक – कहानी की बात।

‘कथा’ नामक अनियतकालीन पत्रिका का प्रकाशन एवं सम्पादन।

# मलबे का मालिक

**मोहन राकेश**

साढ़े सात साल के बाद वे लोग लाहौर से अमृतसर आए थे। हॉकी का मैच देखने का तो बहाना ही था, उन्हें ज़्यादा चाह उन घरों और बाज़ारों को फिर से देखने का था जो साढ़े सात साल पहले उनके लिए पराये हो गए थे। हर सड़क पर मुसलमानों की कोई न कोई टोली घूमती नजर आ आती है। उनकी आंखें इस आग्रह के साथ वहां की हर चीज़ को देख रही थीं जैसे वह शहर साधारण शहर न होकर एक अच्छा-खासा आकर्षण-केन्द्र हो।

तंग बाज़ारों में से गुजरते हुऐ वे एक-दूसरे को पुरानी, चीजों की याद दिला रहे थे..... देख--फतहदीना, मिसरी बाज़ार में अब मिसरी की दुकानें पहले से कितनी कम रह गई हैं! उस नुक्कड़ पर सुक्खी भठियारिन की भट्ठी थी, जहां अब वह पानवाला बैठा है।.... यह नमक मण्डी देख लो, खान साहब! यहां की एक-एक लालाइन वह नमकीन होती है कि बस....!

बहुत दिनों के बाद बाज़ारों में तुर्रेदार पगड़ियां और लाल तुरकी टोपियां नजर आ रही थीं। लाहौर से आए मुसलमानों में काफी संख्या ऐसे लोगों की थी जिन्हें विभाजन के समय मजबूर होकर अमृतसर से जाना पड़ा था। साढ़े सात साल में आए अनिवार्य परिवर्तनों को देखकर कहीं उनकी आंखों में हैरानी भर जाती और कहीं अफसोस घिर आता-वल्लाह! कटरा जयमल सिंह इतना चौड़ा कैसे हो गया? क्या इस तरफ के सब के सब मकान जल गए थे?...



यहां हकीम आसिफ अली की दुकान थी न? अब यहां एक मोची ने कब्ज़ा कर रखा है।

और कहीं-कहीं ऐसे वाक्य भी सुनाई दे जाते-वली, यह मस्जिद ज्यों का त्यों खड़ी है? इन लोगों ने इसका गुरूदारा नहीं बना दिया।

जिस रास्ते से भी पाकिस्तानियों को टोली गुजरती, शहर के लोग उत्सुकतापूर्वक उस तरफ देखते रहते। कुछ लोग अब भी मुसलमानों को आते देखकर आशंकित से रास्ते से हट जाते, जबकि दूसरे आगे बढ़कर उनसे बगलगीर होने लगते। ज्यादातर वे आगन्तुकों से ऐसे-ऐसे सवाल पूछते - कि आजकल लाहौर का क्या हाल है? अनारकली में अब पहले जितनी रौनक होती है या नहीं? सुना है, शहालमीगेट का बाजार पूरा नया बना है? कृष्णनगर में तो कोई खास तब्दीली नहीं आई? वहां का रिश्वतपुरा क्या वाकई रिश्वत के पैसे से बना है?.... कहते हैं, पाकिस्तान में अब बुर्का बिल्कुल उड़ गया है, यह ठीक है? .... इन सवालों में इतनी आत्मीयता झलकती थी कि लगता था, लाहौर एक शहर नहीं, हजारों लोगों का सगा-सम्बन्धी है, जिसके हाल जानने के लिए वे उत्सुक है। लाहौर से आए लोग उस दिन शहर-भर के मेहमान थे जिनसे मिलकर और बातें करके लोगो को बहुत खुशी हो रही थी।

बाजार बांसा अमृतसर का एक उजड़ा-सा बाज़ार है, जहां विभाजन से पहले ज़्यादातर निचले तबके के मुसलमान रहते थे। वहां ज्यादातर बांसों और शहतीरों की ही दुकानें थीं जो सबकी सब एक ही आग में जल गई थीं। बाज़ार बांसा की वह आग अमृतसर की सबसे भयानक आग थी जिससे कुछ देर के लिए तो सारे शहर के जल जाने का अंदेशा पैदा हो गया था। बाज़ार बांसा के आसपास के कई मुहल्लों को तो उस आग ने अपनी लपेट में ले ही लिया था। खैर, किसी तरह वह आग काबू में आ गई थी, पर उसमें मुसलमानों के एक-एक घर के साथ हिन्दुओं के भी चार-चार, छः-छः घर जलकर राख हो गए थे। अब साढ़े सात साल में उनमें से कई इमारतें फिर से खड़ी हो गई थीं, मगर जगह-जगह

मलबे के ढ़ेर अब भी मौजूद थे। नई इमारतों के बीच-बीच वे मलबे के ढ़ेर एक अजीब वातावरण प्रस्तुत करते थे।

बाज़ार बांसा में उस दिन भी चहल-पहल नहीं थी क्योंकि उस बाज़ार के रहने वाले ज़्यादातर लोग तो अपने मकानों के साथ ही शहीद हो गए थे, और जो बचकर चले गए थे, उनमें से शायद किसी में भी लौटकर आने की हिम्मत नहीं रही थी। सिर्फ एक दुबला-पतला बुड्ढा मुसलमान ही उस दिन उस वीरान बाज़ार में आया और वहां की नई और जली हुई इमारतों को देखकर जैसे भूलभुलैयां में पड़ा गया। बाईं तरफ जानेवाली गली के पास पहुंचकर उसके पैर अन्दर मुड़ने को हुए, मगर फिर वह हिचकिचाकर वहां बाहर ही खड़ा रह गया। जैसे उसे विश्वास नहीं हुआ कि यह वहीं गली है जिसमें वह जाना चाहता है। गली में एक तरफ कुछ बच्चे कीड़ी-कीड़ा खेल रहे थे और कुछ फासले पर दो स्त्रियां ऊंची आवाज़ में चीखती हुई एक-दूसरी को गालियां दे रही थीं।

"सब कुछ बदल गया, मगर बोलियां नहीं बदलीं!" बुडूढ़े मुसलमान ने धीमे स्वर में अपने से कहा और छड़ी का सहारा लिए खड़ा रहा। उसके घुटने पाजामे से बाहर को निकल रहे थे। घुटनों से थोड़ा ऊपर शेरवानी में तीन-चार पैबन्द लगे थे। गली से एक बच्चा रोता हुआ बाहर आ रहा था। उसने उसे पुचकारा, "इधर आ, बेटे! आ, तुझे चिज्जी देंगे, आ!" और वह अपनी जेब में हाथ डालकर उसे देने के लिए कोई चीज ढूंढ़ने लगा। बच्चा एक क्षण के लिए चुप कर गया, लेकिन फिर उसी तरह होंठ बिसूरकर रोने लगा। एक सोलह-सत्रह साल की लड़की गली के अन्दर से दौड़ती हुई आईं और बच्चे को बांह से पकड़कर गली में ले चली। बच्चा रोने के साथ-साथ अब अपनी बांह छुड़ाने के लिए मचलने लगा। लड़की ने उसे अपनी बांहों मे उठाकर साथ सटा लिया और उसका मुंह चूमती हुई बोली, चुप, खसम-खाने! रोएगा, तो वह मुसलमान तुझे पकड़कर ले जाएगा! कह रही हूं, चुप कर!"

बुड्ढ़े मुसलमान ने बच्चे को देने के लिए जो पैसा निकाला था, वह उसने



वापस जेब में रख लिया। सिर से टोपी उतारकर वहां थोड़ा खुज़लाया और टोपी अपनी बगल में दबा ली। उसका गला खुश्क हो रहा था और घुटने पोड़ा कांप रहे थे। उसने गली के बाहर की एक बन्द दुकान के तख्ते का सहारा ले लिया और टोपी फिर से सिर पर लगा ली। गली के सामने जहां पहले ऊंचे-ऊंचे शहतीर रखे रहते थे, वहां अब एक तिमंजिला मकान खड़ा था। सामने बिजली के तार पर दो मोटी-मोटी चीलें बिल्कुल जड़-सी बैठी थीं। बिजली के खम्भे के पास थोड़ी धूप थी। यह कई पल धूप में उड़ते ज़र्रो को देखता रहा। फिर उसके मुंह से निकला, "या मालिक!"

एक नवयुवक चाबियों का गुच्छा घुमता गली की तरफ आया। बुड्ढ़े को वहां खड़े देखकर उसने पूछा, "कहिए मियांजी, यहां किसलिए खड़े हैं?"

बुड्ढ़े मुसलमान की छाती और बांहों में हल्की-सी कंपकंपी महसूस हुई। उसने होंठों पर ज़बान फ़ेरी और नवयुवक को ध्यान से देखते हुए कहा, "बेटे, तेरा नाम मनोरी है न?"

नवयुवक ने चाबियों के गुच्छे को हिलाना बन्द करके अपनी मुट्ठी में ले लिया और कुछ आश्चर्य के साथ पूछा, "आपको मेरा नाम कैसे मालूम है?"

"साढ़े सात साल पहले तू इतना-सा था," कहकर बुड्ढ़े ने मुसकराने की कोशिश की।

"आप आज पाकिस्तान से आए हैं?"

"हां! पहले हम इसी गली में रहते थे," बुड्ढ़े ने कहा। "मेरा लड़का चिरागदीन तुम लोगों का दर्जी था। तकसीम से छः महीने पहले हम लोगों ने यहां अपना नया मकान बनवाया था।"

"ओ, गनी मियां!" मनोरी ने पहचानकर कहा।

"हां, बेटे, मैं तुम लोगों का गनी मियां हूं! चिराग और उसके बीवी-बच्चे तो अब मुझे मिल नहीं सकते, मगर मैंने सोचा कि एक बार मकान की ही सूरत

देख लूं!" बुड्ढ़े ने टोपी उतारकर सिर पर हाथ फेरा, और अपने आंसुओं को बहने से रोक लिया।

"तुम तो शायद काफी पहले यहां से चले गए थे," मनोरी के स्वर में संवेदना भर आई।

"हां, बेटे यह मेरी बदबख्ती थी कि मैं अकेला पहले निकलकर चला गया था यहां रहता, तो उसके साथ मैं भी...." कहते हुए उसे एहसास हो आया कि वह बात उसे नहीं कहनी चाहिए। उसने बात को मुंह में रोक लिया पर आंखों में आए आंसुओं को नीचे वह जाने दिया।

"छोड़ो गनी मियां, अब उन बातों को सोचने में क्या रखा है?" मनोरी ने गनी की बांह अपने हाथ में ले ली। "चलो, तुम्हें तुम्हारा घर दिखा दूं।"

ग़ली में खबर इस तरह फैली थी कि गली के बाहर एक मुसलमान खड़ा है जो रामदासी के लड़के को उठाने जा रहा था.... उसकी बहन वक्त पर उसे पकड़ लाई, नहीं तो वह मुसलमान उसे ले गया होता। यह खबर मिलते ही जो स्त्रियां गली में पीढ़े बिछा कर बैठी थीं, वे पीढ़े उठाकर घरों के अन्दर चली गई। गली में खेलते बच्चों को भी उन्होंने पुकार-पुकारकर घरों के अन्दर बुला लिया। मनोरी गनी को लेकर गली में दाखिल हुआ, तो गली में सिर्फ एक फेरीवाला रह गया था, या रक्खा पहलवान जो कुएं पर उगे पीपल की नीचे बिखरकर सोया था। हां, घरों की खिड़कियों में से और किवाड़ों के पीछे से कई चेहरे गली में झांक रहे थे। मनोरी के साथ गनी को आते देखकर उनमें हल्की चेहमेगेइयां शुरू हो गई। दाढ़ी के सब बाल सफेद हो जाने के बावजूद चिरागदीन के बाप अब्दुल गनी को पहचानने में लोगों को दिक्कत नहीं हुई।

"वहां था तुम्हारा मकान," मनोरी ने दूर से एक मलबे की तरफ इशारा किया। गनी पल-भर ठिठककर फटी-फटी आंखों से उस तरफ देखता रहा। चिराग और उसके बीवी-बच्चों की मौत को वह काफी पहले स्वीकार कर चुका था। मगर अपने नये मकान को इस शक्ल में देखकर उसे जो झुरझुरी हुई,



उसके लिए वह तैयार नहीं था। उसकी जबान पहले से और खुश्क हो गई और घुटने भी ज्यादा कांपने लगे।

"यह मलबा?" उसने अविश्वास के साथ पूछ लिया।

मनोरी ने उसके चेहरे के बदले हुए रंग को देखा। उसकी बांह को थोड़ा और सहारा देकर जड़-से स्वर मे उत्तर दिया, "तुम्हारा मकान उन्हीं दिनों जल गया था।"

गनी छड़ी के सहारे चलता हुआ किसी तरह मलबे के पास पहुंच गया। मलबे में अब मिट्टी ही मिट्टी थी जिसमें से जहां-तहां टूटी और जली हुई ईंटें बाहर झांक रही थीं। लोहे और लकड़ी का सामान उसमें से कब का निकाला जा चुका था केवल एक जले हुए दरवाज़े का चौखट न जाने कैसे बचा रह गया था। पीछे की तरफ दो जली हुई अलमारियां थी जिनकी कालिख पर अब सफेदी की हल्की-हल्की तह उभर आई थी। उस मलबे को पास से देखकर गनी ने कहा, "यहाँ बाकी रह गया है, यह?" और उसके घुटने जैसे जवाब दे गए और वह वहीं जले हुए चौखट को पकड़कर बैठ गया। क्षण-भर बाद उसका सिर भी चौखट से जा सटा और उसके मुंह से बिलखने की-सी आवाज निकली, "हाय ओए चिरागदीना!"

जले हुए किवाड़ का चौखट मलबे में से सिर निकाल साढ़े सात साल खड़ा तो रहा था, पर उसकी लकड़ी बुरी तरह भुरभुरा गई थी। गनी के सिर के छूने से उसके कई रेशे झड़कर आसपास बिखर गए। कुछ रेशे गनी की टोपी और बालों पर आ रहे। उन रेशों के साथ एक केंचुआ भी नीचे गिरा जो गनी के पैर से छः आठ इंच दूर नाली के साथ-साथ बनी ईंटों की पटरी पर इधर-उधर सरसराने लगा। वह छिपने के लिए सूराख ढूंढ़ता हुआ जरा-सा सिर उठाता, पर कोई जगह न पाकर दो-एक बार सिर पटकने के बाद दूसरी तरफ मुड़ जाता।

खिड़कियों से झांकनेवाले चेहरों की संख्या अब पहले से कहीं ज्यादा हो गई थी। उनमें चेहमेगोइयां चल रही थीं कि आज कुछ न कुछ जरूर होगा....

चिरागदीन का बाप गनी आ गया है, इसलिए साढ़े सात साल पहले की वह सारी घटना आज अपने-आप खुल जाएगी। लोगों को लग रहा था जैसे वह मलबा ही गनी को सारी कहानी सुना देगा-कि शाम के वक्त चिराग ऊपर के कमरे में खाना खा रहा था जब रक्खे पहलवान ने उसे नीचे बुलाया - कहा कि वह एक मिनट आकर उसकी बात सुन ले। पहलवान उन दिनों गली का बादशाह था। वहां के हिन्दुओं पर ही उसका काफी दबदबा था-चिराग तो खैर मुसलमान था। चिराग हाथ का कौर बीच मे ही छोड़कर नीचे उतर आया। उसकी बीवी जुबैदा और दोनों लड़कियां, किश्वर और सुलताना, खिड़कियों से नीचे झांकने लगीं। चिराग ने ड्योढ़ी से बाहर कदम रखा ही था कि पहलवान ने उसे कमीज़ के कॉलर से पकड़कर अपनी तरफ खींच लिया और गली में गिराकर उसकी छाती पर चढ़ बैठा। चिराग उसका छुरेवाला हाथ पकड़कर चिल्लाया, “रक्खे पहलवान, मुझे मत मार! हाय, कोई मुझे बचाओ!” ऊपर से जुबैदा, किश्वर और सुलताना भी हताश स्वर में चिल्लाई और चीखती हुई नीचे ड्योढ़ी की तरफ दौडी। रक्खे के एक शार्गिद ने चिराग की जद्दो-जेहद करती बांहे पकड़ ली और रक्खा उसकी जांघों को अपने घुटनों से दबाए हुए बोला, “चीखता क्यों है, भैण के... तुझे मैं पाकिस्तान दे रहा हूं, ले पाकिस्तान!” और जब तक जुबैदा, किश्वर और सुलताना नीचे पहुंची, चिराग को पाकिस्तान मिल चुका था।

आसपास के घरों की खिड़कियां तब बंद हो गई थी। जो लोग इस दृश्य के साक्षी थे, उन्होंने दरवाजे बंद करके अपने को इस घटना के उत्तरदायित्व से मुक्त कर लिया था। बंद किवाड़ों में भी उन्हें देर तक जुबैदा, किश्वर और सुलताना के चीखने की आवाजें सुनाई देती रहीं। रक्खे पहलवान और उसके साथियों ने उन्हें भी उसी रात पाकिस्तान दे दिया, मगर दूसरे तबील रास्ते से। उनकी लाशें चिराग के घर में न मिलकर बाद में नहर के पानी में पाई गईं।

दो दिन चिराग के घर की छानबीन होती रही थी। जब उसका सारा सामान लूटा जा चुका, तो न जाने किसने उस घर को आग लगा दी थी। रक्खे पहलवान



ने तब कसम खाई थी कि वह आग लगाने वाले को जिंदा ज़मीन में गाड़ देगा क्योंकि उस मकान पर नज़र रखकर ही उसने चिराग को मारने का निश्चय किया था। उसने उस मकान को शुद्ध करने के लिए हवन-सामग्री भी ला रखी थी। मगर आग लगाने वाले का तब से आज तक पता नहीं चल सका था। अब साढ़े सात साल से रक्खा उस मलबे को अपनी जायदाद समझता आ रहा था, जहां न वह किसी को गाय-भैंस बांधने देता था और न ही खुमचा लगाने देता था। उस मलबे से बिना उसकी इजाजत के कोई एक ईंट भी नहीं निकाल सकता था।

लोग आशा कर रहे थे यह सारी कहानी जरूर किसी न किसी तरह गनी तक पहुंच जाएगी..... जैसे मलबे को देखकर ही उसे सारी घटना का पता चल जाएगा। और गनी मलबे की मिट्टी को नाखूनों से खोद-खादकर अपने ऊपर डाल रहा था और दरवाजे के चौखट को बांह में लिए हुए रो रहा था, “बोले, चिरागदीना, बोल! तू कहां चला गया, ओए? ओ किश्वर! ओ सुलताना! हाय, मेरे बच्चे ओएऽऽ! गनी की पीछे क्यों छोड़ दिया, ओएऽऽ!”

और भुरभुरे किवाड़ से लकड़ी के रेशे झड़ते जा रहे थे।

पीपल के नीचे सोए रक्खे पहलवान को जाने किसी ने जगा दिया, वह खुद ही जाग गया। यह जानकर कि पाकिस्तान से अब्दुल गनी आया है और अपने मकान के मलबे पर बैठा है, उसके गले में थोड़ा झाग उठा आया जिससे उसे खांसी आ गई और उसने कुएं के फर्श पर थूक दिया। मलबे की तरफ देखकर उसकी छाती से धौंकनी की सी आवाज़ निकली और उसका निचला होंठ थोड़ा बाहर को फैल आया।

“गनी अपने मलबे पर बैठा है,” उसके शार्गिद लच्छे पहलवान ने उसके पास आकर बैठते हुए कहा।

“मलबा उसका कैसे है? मलबा हमारा है!” पहलवान ने झाग से घरघराई आवाज में कहा।

"मगर वह वहां बैठा है," लच्छे ने आंखों में एक रहस्यमय संकेत लाकर कहा।

"बैठा है, बैठा रहे। तू चिलम ला!" रक्खे की टांगें थोड़ी फैल गई और उसने अपनी नंगी जांघों पर हाथ फेर लिया।

"मनोरी ने अगर उसे कुछ बता-वता दिया तो....?" लच्छे ने चिलम भरने के लिए उठते हुए उसी रहस्यपूर्ण ढंग से कहा।

"मनोरी की क्या शामत आई है?"

लच्छा चला गया।

कुएं पर पीपल की गई पुरानी पत्तियां बिखरी थीं। रक्खा उन पत्तियों को उठा-उठाकर अपने हाथों में मसलता रहा। जब लच्छे ने चिलम के नीचे कपड़ा जलाकर चिलम उसके हाथ में में दी, तो उसने कश खींचते हुए पूछा, "और तो किसी से तो गनी की बात नहीं हुई?"

"नहीं।"

"ले," और उसने खांसते हुए चिलम लच्छे के हाथ में दे दी। मनोरी गनी की बांह पकड़े मलबे की तरफ से आ रहा था। लच्छा उकडूं होकर चिलम के लम्बे-लम्बे कश खींचने लगा। उसकी आंखें आधा क्षण रक्खे के चेहरे पर टिकतीं और आधा क्षण गनी की तरफ लगी रहतीं।

मनोरी गनी की बांह थामे उससे एक कदम आगे चल रहा था - जैसे उसकी कोशिश हो कि गनी कुएं के पास से बिना रक्खे को देखे ही निकल जाए। मगर रक्खा जिस तरह बिखरकर बैठा था, उससे गनी ने उसे दूर से ही देख लिया। कुएं के पास पहुंचते न पहुंचते उसकी दोनों बांहें फैल गई और उसने कहा, "रक्खे पहलवान!"

रक्खे ने गरदन उठाकर और आंखें ज़रा छोटी करके उसे देखा। उसके गले में अस्पष्ट-सी घरघराहट हुई, पर वह बोला नहीं।



"रक्खे पहलवान, मुझे पहचाना नहीं?" गनी ने बांहें नीची करके कहा। "मैं गनी हूं, अब्दुल गनी, चिरागदीन का बाप!

पहलवान ने ऊपर से नीचे तक उसका जायज़ा लिया। अब्दुल गनी की आंखों में उसे देखकर एक चमक-सी आ गई थी। सफेद दाढ़ी के नीचे उसके चेहरे की झुर्रियां भी कुछ फैल गई थीं। रक्खे का निचला होंठ फड़का। फिर उसकी छाती से भारी-सा स्वर निकला, "सुना, गनिया!"

गनी की बांहे फिर फैलने को हुई, पर पहलवान पर कोई प्रतिक्रिया न देखकर उसी तरह रह गई। वह पीपल का सहारा लेकर कुएं की सिल पर बैठ गया।

ऊपर खिड़कियों में चेहमेगेइयां तेज हो गई कि अब दोनों आमने-सामने आ गए हैं, तो बात जरूर खुलेगी.... फिर हो सकता है दोनों में गाली-गलौज भी हो।..... अब रक्खा गनी को हाथ नहीं लगा सकता। अब वे दिन नहीं रहे। . ....बड़ा मलबे का मालिक बनता था!......असल में मलबा न इसका है, न गनी का। मलबा तो सरकार की मलकियत है! मरदूद किसी को वहां गाय का खूंटा तक नहीं लगाने देता! .....मनोरी भी डरपोक है। इसने गनी को बता क्यों नहीं दिया कि रक्खे ने ही चिराग और उसके बीवी-बच्चों को मारा है!.....रक्खा आदमी नहीं सांड है! दिन-भर सांड की तरह गली में घूमता है!......गनी बेचारा कितना दुबला हो गया है! दाढ़ी के सारे बाल सफेद हो गए हैं!....

गनी ने कुएं की सिल पर बैठकर कहा, "देख रक्खे पहलवान, क्या से क्या हो गया है! भरा-पूरा घर छोड़कर गया था और आज यहां यह मिट्टी देखने आया हूं। बसे घर की आज यही निशानी रह गई है! तू सच पूछे, तो मेरा यह मिट्टी भी छोड़कर जाने का मन नहीं करता!" और उसकी आंखें फिर छलछला आई।

पहलवान ने अपनी टांगें समेट लीं और अंगोछा कुएं की मुंडेर से उठाकर कंधे पर डाल लिया। लच्छे ने चिलम उसकी तरफ बढ़ा दी। वह कश खींचने लगा।

"तू बता, रक्खे, यह सब हुआ किस तरह?" गनी किसी तरह अपने आंसू रोक कर बोला। "तुम लोग उसके पास थे। सब में भाई-भाई की-सी मुहब्बत थी। अगर वह चाहता, तो तुम में से किसी के घर में नहीं छिप सकता था? उसमें इतनी भी समझदारी नहीं थी?"

"ऐसे ही है," रक्खे को स्वयं लगा कि उसकी आवाज़ में एक अस्वाभाविक-सी गूंज है। उसके होंठ गाढ़े लार से चिपक गए थे। मूंछों के नीचे से पसीना उसके होंठ पर आ रहा था। उसे माथे पर किसी चीज का दबाव महसूस हो रहा था और उसकी रीढ़ की हड्डी सहारा चाह रही थी।

"पाकिस्तान में तुम लोगों के क्या हाल हैं?" उसने पूछा। उसके गले की नसों में एक तनाव आ गया था। उसने अंगोछे से बगलों का पसीना पोंछा और गले का झाग मुंह में खींचकर गली में थूक दिया।

"क्या हाल बताऊं, रक्खे," गनी दोनों हाथों से छड़ी पर बोझ डालकर झुकता हुआ बोला। "मेरा हाल तो मेरा खुदा ही जानता है। चिराग वहां साथ होता, तो और बात थी।....मैंने उसे कितना समझाया था कि मेरे साथ चला चल। पर वह जिद पर अड़ा रहा कि नया मकान छोड़कर नहीं जाऊंगा-यह अपनी गली है, यहां कोई खतरा नहीं है। भोले कबूतर ने यह नहीं सोचा कि गली से खतरा न हो, पर बाहर से तो खतरा आ सकता है! मकान की रखवाली के लिए चारों ने अपनी जान दे दी!..... रक्खे, उसे तेरा बहुत भरोसा था। कहता था कि रक्खे के रहते मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मगर जब जान पर बन आई, तो रक्खे के रोके भी न रूकी।"

रक्खे ने सीधा होने की चेष्टा की क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी बहुत दर्द कर रही थी। अपनी कमर और जांघों के जोड़ पर उसे सख्त दबाव महसूस हो रहा था। पेट की अंतड़ियों के पास से जैसे कोई चीज़ उसकी सांस को रोक रही थी। उसका सारा जिस्म पसीने से भीग गया था और उसके तलुओं में चुनचुनाहट हो रही थी। बीच-बीच में नीली फुलझड़ियां-सी ऊपर से उतरती और तैरती हुई



उसकी आंखों के सामने से निकल जातीं। उसे अपनी जबान और होंठों के बीच एक फासला-सा महसूस हो रहा था। उसने अंगोछे से होंठो के कानों को साफ किय। साथ ही उसके मुंह से निकला, "हे प्रभु, तू ही है, तू ही है, तू! ही है!"

गनी ने देखा कि पहलवान के होंठ सूख रहे हैं और उसकी आंखों के गिर्द दायरे गहरे हो गए हैं। वह उसके कंधे पर हाथ रखकर बोला, "जो होना था, हो गया रक्खिआ! उसे अब कोई लौटा थोड़े ही सकता है! खुदा नेक की नेकी बनाए रखे और बद की बदी माफ करे! मैंने आकर तुम लोगों को देख लिया, सो समझूंगा कि चिराग को देख लिया। अल्लाह तुम्हें सेहतमंद रखे!" और वह छड़ी के सहारे उठ खड़ा हुआ। चलते हुए उसने कहा, "अच्छा रक्खे, पहलवान!"

रक्खे के गले से मद्धिम-सी आवाज निकली। अंगोछा लिए हुए उसके दोनों हाथ जुड़ गए। गनी हसरत-भरी नजर से आसपास देखता हुआ धीरे-धीरे गली से बाहर चला गया।

ऊपर खिड़कियों में थोड़ी देर चेहमेगोइयां चलती रहीं- कि मनोरी ने गली से बाहर निकालकर ज़रूर गनी को सब कुछ बता दिया होगा कि गनी के सामने रक्खे सका तालू कैसे खुश्क हो गया था! रक्खा अब किस मुंह से लागों को. ..मलबे पर गाय बांधने से रोकेगा? बेचारी जुबैदा! कितनी अच्छी थी वह! रक्खे मरदूद का घर..... न घाट, इसे किसी की मां-बहन का लिहाज था?

थोड़ी देर में स्त्रियां घरों से गली में उतर आईं। बच्चे गली में गुल्ली-डण्डा खेलने लगे। दो बारह-तेरह साल की लड़कियां किसी बात पर एक-दूसरी से गुत्थम-गुत्था हो गई।

रक्खा गहरी शाम तक कुएं पर बैठा खंखारता और चिलम फूंकता रहा। कई लोगों ने वहां गुजरते हुए उससे पूछा, "रक्खे शाह, सुना है आज गनी पाकिस्तान से आया था?"

"हां, आया था," रक्खे ने हर बार एक ही-उत्तर दिया।

"फिर?"

"फिर कुछ नहीं। चला गया।"

रात होने पर रक्खा रोज की तरह गली के बाहर बाई तरफ की दुकान के तख्ते पर आ बैठा। रोज वह रास्ते से गुजरने वाले परिचित लोगों को आवाज दे-देकर पास बुला लेता था और उन्हें सट्टे के गुर और सेहत के नुस्खे बताता रहता था। मगर उस दिन वह वहां बैठा लच्छे को अपनी वैश्नो देवी की उस यात्रा का वर्णन सुनाता रहा जो उसने पंद्रह साल पहले की थी। लच्छे को भेजकर वह गली में आया, तो मलबे के पास लोकू पण्डित की भैंस को देखकर वह आदत के मुताबिक उसे धक्के दे-देकर हटाने लगा -"तत-तत-तत....... तत-तत....!"

भैंस को हटाकर वह सुस्ताने के लिए मलबे के चौखट पर बैठ गया। गली उस समय सुनसान थी। कमेटी की बत्ती न होने से वहां शाम से ही अंधेरा हो जाता था। मलबे के नीचे नाली का पानी हल्की आवाज़ करता बह रहा था। रात की खामोशी को काटती हुई कई तरह की हल्की-हल्की आवाजें मलबे की मिट्टी में से सुनाई दे रही थीं.....च्यु-च्यु-च्यु..... चिक्-चिक्-चिक् ......... किर्र्र्र्र्-र्र्र्र्-रीरीरीरी-चिर्र्र्र्र्....। एक भटका हुआ कौआ न जाने कहां से उड़कर उस चौखट पर आ बैठा। इससे लकड़ी की कई रेशे इधर-उधर छितरा गए। कौए के वहां बैठते मलबे के एक कोने में लेटा हुआ कुत्ता गुर्राकर उठा और ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा-वऊ अऊ-वऊ! कौआ कुछ देर सहमा-सा चौखट पर बैठा रहा, फिर पंख फड़फड़ाता हुएं के पीपल पर चला गया। कौए के उड़ जाने पर कुत्ता और नीचे उतर आया और पहलवान की तरफ मुंह करके भौंकने लगा। पहलवान उसे हटाने के लिए भारी आवाज में बोला, "दुर्-दुर् दुर्. ....दुरे!" मगर कुत्ता और पास आकर भौंकने लगा- वऊ-अउ-वउ-वउ-वउ-वउ।

पहलवान ने एक ढेला उठाकर कुत्ते की तरफ फेंका। कुत्ता थोड़ा पीछे हट



गया, पर उसका भौंकना बंद नहीं हुआ। पहलवान कुत्ते को माँ की गाली देकर वहां से उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे जाकर कुएं की सिल पर लेट गया। उसके वहां से हटते ही कुत्ता गली में उतर आया और कुएं की तरफ मुंह करके भौंकने लगा। काफी देर भौंकने के बाद जब उसे गली में कोई प्राणी चलता-फिरता नज़र नहीं आया, तो वह एक बार कान झटककर मलबे पर लौट गया और वहां कोने में बैठकर गुर्राने लगा।

## मोहन राकेश

जन्म - 8 जनवरी 1925, जन्म स्थान - अमृतसर।

प्रकाशनः उपन्यास-अंधेरे बंद कमरे, अंतराल, न आने वाला कल।

कहानी संग्रह- क्वार्टर तथा अन्य कहानियाँ।, पहचान तथा अन्य कहानियाँ, वारिस तथा अन्य कहानियाँ।

नाटक- आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे।

निबंध संग्रह - परिवेश।

एकत्र - असंकलित तथा अप्रकाशित रचनाएं।

अनुवाद - मृच्छटिक और शकुन्तला।

# अभिमन्यु की आत्महत्या

**राजेन्द्र यादव**

I shall depart. Steamer with swaying masts, raise anchor for exotic landscapes.

— 'Sea Breeze'
Mallarme

तुम्हें पता है, आज मेरी वर्षगांठ है और आज मैं आत्महत्या करने गया था?

मालूम है, आज मैं आत्महत्या करके लौटा हूं?

अब मेरे पास शायद कोई 'आत्म' नहीं बचा, जिसकी हत्या हो जाने का भय हो। चलो, भविष्य के लिए छुट्टी मिली!

किसी ने कहा था कि उस जीवन देने वाले भगवान को कोई हक नहीं है कि हमें तरह-तरह की मानसिक यातनाओं से गुज़रता देख-देखकर बैठा-बैठा मुस्कराये, हमारी मजबूरियों पर हंसे। मैं अपने आपसे लड़ता रहूं, छटपटाता रहूं, जैसे पानी में पड़ी चींटी छटपटाती है, और किनारे पर खड़े शैतान बच्चे की तरह मेरी चेष्टाओं पर 'वह' किलकारियां मारता रहे! नहीं, मैं उसे यह क्रूर आनन्द नहीं दे पाऊंगा और उसका जीवन उसे लौटा दूंगा। मुझे इन निरर्थक परिस्थितियों के चक्रव्यूह में डालकर तू खिलावाड़ नहीं कर पाएगा कि हल तो मेरी मुट्ठी में बंद है ही। सही है, कि मां के पेट में ही मैंने सुन लिया था कि चक्रव्यूह तोड़ने का रास्ता क्या है, और निकलने का तरीका मैं नहीं जानता था.... लेकिन निकलकर ही क्या होगा? किस शिव का धनुष मेरे बिना अनटूटा पड़ा है? किसी



अपर्णा सती की वरमालाएं मेरे बिना सूख-सूखकर बिखरी जा रही हैं? किस एवरेस्ट की चोटियां मेरे बिना अछूती बिलख रही हैं? जब तूने मुझे जीवन दिया है तो 'अहं' भी दिया है, 'मैं हूं' का बोध भी दिया है, और मेरे उस 'मैं' को हक है कि वह किसी भी चक्रव्यूह को तोड़कर घुसने और निकलने से इंकार कर दे..... और इस तरह तेरे इस बर्बर मनोरंजन की शुरूआत ही न होने दे.....

और इसीलिए मैं आत्महत्या करने गया था, सुना?

किसी ने कहा था कि उस पर कभी विश्वास मत करो, जो तुम्हें नहीं तुम्हारी कला को प्यार करती है, तुम्हारे स्वर को प्यार करती है, तुम्हारी महानता और तुम्हारे धन को प्यार करती है। क्योंकि वह कहीं भी तुम्हें प्यार नहीं करती। तुम्हारे पास कुछ है जिससे उसे मुहब्बत है। तुम्हारे पास कला है; हृदय है, मुस्कराहट है, स्वर है, महानता है, धन है और उसी से उसे प्यार है; तुमसे नहीं। और जब तुम उसे वह सब नहीं दे पाओगे तो दीवाला निकले शराबखाने की तरह वह किसी दूरे मैकदे की तलाश कर लेगी और तुम्हें लगेगा कि तुम्हारा तिरस्कार हुआ। एक दिन यही सब बेचनेवाला दूसरा दूकानदार उसे इसी बाज़ार में मिल जाएगा और वह हर पुराने को नये से बदल लेगी, हर बुरे को अच्छे से बदल लेगी, और तुम चिलचिलाते सीमाहीन रेगिस्तान में अपने को अनाथ और असहाय बच्चे-सा प्यासा और अकेला पाओगे.... तुम्हारे सिर पर छाया का सुरमई बादल सरककर आगे बढ़ गया होगा और तब तुम्हें लगेगा कि बादल की उस श्यामल छाया ने तुम्हें ऐसी जगह ला छोड़ा है जहां से लौटने का रास्ता तुम्हें खुद नहीं मालूम.... जहां तुममें न आगे बढ़ने की हिम्मत है, न पीछे लौटने की ताकत। तब यह छलावा और स्वप्न-भंग खुद मंत्र-टूटे सांप सा पलटकर तुम्हारी ही एड़ी में अपने दांत गड़ा देगा और नस-नस से लपकती हुई नीली लहरों के विष बुझे तीर तुम्हारे चेतना के रथ को छलनी कर डालेंगे और तुम्हारे

रथ के टूटे पहिये तुम्हारी ढाल का काम भी नहीं दे पायेंगे...... कोई भीम तब तुम्हारी रक्षा को नहीं आएगा।

क्योंकि इस चक्रव्यूह से निकलने का रास्ता तुम्हें किसी अर्जुन ने नहीं बताया – इसीलिए मुझे आत्महत्या कर लेनी पड़ी और फिर मैं लौट आया – अपने लिए नहीं, परीक्षित के लिए, ताकि वह हर सांस से मेरी इस हत्या का बदला ले सके, हर तक्षक को यज्ञ की सुगंधित रोशनी तक खींच लाए।

मुझे याद है : मैं बड़े ही स्थिर कदमों से बांद्रा पर उतरा था और टहलता हुआ 'सी' रूट के स्टैण्ड पर आ खड़ा हुआ था। सागर के उस एकान्त किनारे तक जाने लायक पैसे जेब में थे। पास ही मज़दूरों का एक बड़ा-सा परिवार धूलिया फुटपाथ पर लेटा था। धुआंते गड्ढ़े जैसे चूल्हे की रोशनी में एक धोती में लिपटी छाया पीला-पीला मसाला पीस रही थी। चूल्हे पर कुछ खदक रहा था। पीछे की टूटी बाउण्ड्री से कोई झूमती गुन-गुनाहट निकली और पुल के नीचे से रोशनी-अंधेरे के चारखाने के फीते-सी रेल सरकती हुई निकल गई-विले पार्ले के स्टेशन पर मेरे पास कुछ पांच आने बचे थे।

घोड़बन्दर के पार जब दस बजे वाली बस सीधी बैण्ड स्टैण्ड की तरफ दौड़ी तो मैंने अपने-आपसे कहा -"वॉट डू आई केयर? मैं किसी की चिन्ता नहीं करता!"

और जब बस अन्तिम स्टेज पर आकर खड़ी हो गई तो मैं ढालू सड़क पार कर सागर-तट के ऊगड़-खाबड़ पत्थरों पर उतर पड़ा। ईरानी रेस्त्रां की आसमानी नियोन लाइटें किसी लाइटहाउस की दिशा देती पुकार जैसी लग रही थीं,.... नहीं, मुझे अब कोई पुकार नहीं सुननी.... कोई और अप्रतिरोध पुकार है जो इससे ज़्यादा ज़ोर से मुझे खींच रही है। दौड़ती बस में सागर की सीली-सीली हवाओं में आती यह गम्भीर पुकार कैसी फुरहरी पैदा करती थी। और मैं ऊंचे-नीचे पत्थरों के ढोकों पर पांव रखता हुआ बिल्कुल लहरों के पास तक चला आया था। अंधेरे के काले-काले बालों वाली आसमानी छाती के नीचे



भिंचा सागर सुबक-सुबककर रो रहा था, लम्बी-लम्बी सांसें लेता लहर-लहर में उमड़ा पड़ रहा था। रोशनी की आड़ में पत्थर के एक बडे से टुकड़े के पीछे जाने के लिए मैं बढ़ा तो देखा कि वहां आपस में सटी दो छायाएं पहले से बैठी हैं 'ईवनिंग इन पेरिस' की खुशबु पर अनजाने ही मुस्कराता मैं दूसरी ओर बढ़ आया। हां, यही जगह ठीक है, यहां से अब कोई नहीं दीखता। धम से बैठ गया था। सामने ही सागर की वह सीमा थी जहां लहरों से अजगर घन पटक-पटक फुफकार उठते थे और रूपहले फेनों की गोटें सागर की छाती पर यहां-वहां अंधेरे में दमक उठती थीं। पानी की बौछार की तरह छींटे शरीर को भिगो जाते थे और पास की दरारवाली नाली में झागदार पानी उफन उठता था।

सब कुछ कैसा निस्तब्ध था! कितना व्याकुल था! हां, यही तो जगह है जो आत्महत्या-जैसे कामों के लिए ठीक मानी गई है। किसी को पता भी नहीं लगेगा। सागर की गरज में कौन सुनेगा कि क्या हुआ और बड़े-बड़े विज्ञापनों के नीचे एक पतली-सी लाइन में निकली इस सूचना को कौन पढ़ेगा? इस विराट बम्बई में एक आदमी रहा, न रहा। मैंने ज़रा झांककर देखा-मछुओं के पास वाले गिरजे से लेकर ईरानी रेस्त्रां के पास वाले मण्डप तक, सड़क सुनसान लेटी थी। बंगलों की खिडकियां चमक रही थी और सफेद कपड़ों के एकाध धब्बे-से कहीं-कहीं आदमियो का आभास होता था। रात का आनन्द लेने वालों को लिए टैक्सी इधर चली आ रही थी।

असल में मैं आत्महत्या करने नहीं आया था। मैं तो चाहता था कोई मरघट-जैसी शान्त जगह, जहां थोड़ी देर यों ही चुपचाप बैठा जा सके। यह दिमाग में भरा सीसे-सा भारी बोझ कुछ तो हल्का हो, यह सांस-सांस में ररकती सुनाई की नोक-सा दर्द कुछ तो थमे। लहरें सिर फटकर-फटककर रो रही थीं और पानी कराह उठाता था। घायल चील-सी हवा इस क्षितिज तक चीखती फिरती थीं आज सागर-मंथन ज़ोरों पर था। चारों ओर भीषण गरजते अंधेरे की घाटियों में दैत्यवाहिनी की सफें की सफें मार्च करती निकल जाती थीं। दूर, बहुत दूर, बस दो चार बत्तियां कभी-कभी लहरों के नीचे होते ही झिलमिला उठती थीं। बाईं

ओर नगर की बत्तियों की लाइन चली गई थी। सामने शायद कोई जहाज़ खड़ा है, बत्तियों से तो ऐसा लगता है। इस चिंघाड़ते एकान्त में, मान लो, एक लहर ज़रा-सी करवट बदलकर झपट पड़े तो...? किसे पता चलेगा कि कल यहां, इस ढोंके की आड़ में, कोई अपना बोझ सागर को सौंपने आया था, एक पिसा हुआ भुनेगा। मगर आखिर में जियूं ही क्यों? किसके लिए? इस जिन्दगी ने मुझे क्या दिया? वहीं अनथक संघर्ष स्वप्न भंग, विश्वासघात और ज़लालत। सब मिलाकर आपस में गुत्थम-गुत्था करते दुहरे-तिहरे व्यक्तित्व, एक वह जो मैं बनना चाहता था, एक वह जो मुझे बनना पड़ता था...

और उस समय मन में आया था कि, क्यों नहीं कोई लहर आगे बढ़कर मुझे पीस डालती? थोड़ी देर और बैठूंगा, अगर इस ज्वार में आये सागर की लहर जब भी आगे नहीं आई तो मैं खुद उसके पास जाऊंगा। और अपने को उसे सौंप दूंगा..... कोई आवेश नहीं, कोई उत्तेजना नहीं, स्थिर और दृढ़... खूब सोच-विचार के बाद....

अंधेरे के पार से दीखती रोशनी के इस गुच्छे को देख-देखकर जाने क्यों मुझे लगता है कि कोई ज़हाज है जो वहां मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। जाने किन-किन किनारों को छूता हुआ आया है यहां लंगर डाले खड़ा है कि मैं आऊं और वह चल पड़े। यहां से दो-तीन मील तो होगा ही। कहीं उसी में जाने के लिए तो मैं अनजाने रूप से नहीं आ गया... क्योंकि वह मुझे लेने आयेगा यह मुझे मालूम था। दिन-भर उस जानने को मैं झुठलाता रहा और अब आखिर रात के साढ़े दस बजे बम्बई की लम्बी-चौड़ी सड़कें, और कंधे रगड़ती भीड़ें चीरता हुआ मैं यहां चला आया हूं। जाने कौन मन में घिसे रिकार्ड-सा दिनभर दुहराता रहा है कि मुझे यहां जाना है। अनजान पहाड़ों की खूंख्वार तलहटियों से आती यह आवाज़ हातिम ने सुनी थी और वह सारे जाल-जंजाल को तोड़कर उस आवाज के पीछे-पीछे चला गया था। जाने क्यों मैंने भी तो जब-जब पहाड़ों के चीड़ और देवदारू-लदे ढलवानों पर चकमक करती बर्फानी चोटियों और लहराते रेशम से फैले सागर की तरंगों को आंख भरकर देखा है, मुझे यही



आवाज़ सुनाई दी है और मुझे लगा है कि उस आवाज़ को मैं अनसुनी नहीं कर पाऊंगा। हिप्नोटाइज़्ड की तरह दोनों बांहें खोलकर अपने को इस आवाज़ को सौंप दूंगा। अब भी इसी पुकार पर मैं अपने-आपको पहाड़ की चोटी से छलांग लगाकर लहरों तक आते देख रहा हूं। वह जहाज़ मेरी राह में जो खड़ा है, मैं आवाज़ देकर उन्हें बता देना चाहता हूं कि देखो, में आ गया हूं.... देखो, मैं यहां बैठा हूं, मुझे लिये बिना मत जाना।

मुझे लगता है एक छोटी-सी डोंगी अभी जहाज़ से नीचे उतार दी जाएगी और मुझे अपनी ओर आती दिखाई देगी...बस, उस लहर के झुकते ही तो दीख जाएगी। उसमें एक अकेली लालटेन वाली नाव! कहां पढ़ा था? हां याद आया, चेखव की 'कुत्तेवाली महिला' में ऐसा ही दृश्य है जो एक अजीब कवित्वपूर्ण छाप छोड़ गया है मन पर.....गुरोव और सर्जिएव्ना को मैं भूल गया हूं (अभी तो देखा था उस पत्थर की आड़ में) मगर इस फुफकारते सागर को देखकर मेरा सारा अस्तित्व सिहर उठता है। यह गुर्राते शेर-सी गरज और रह-रहकर मूसलाधार पानी की तरह दौड़ती लहरों की वल्गा-हीन उन्मत्त अश्व-पंक्तियां। मुझे इस चक्रव्यूह से निकलने का रास्ता कोई नहीं बताता? अलीबाबा के भाई की तरह मैंने भीतर जाने के सारे रास्ते पा लिए हैं लेकिन उस 'सिम-सिम खुला जा' मंत्र को मैं भूल गया हूं जिससे बाहर निकलने का रास्ता खुलता है। लेकिन मैं उस चक्रव्यूह में क्यों घुसा? कौन-सी पुकार थी जो उस नौजवान को अनजान देश की शहज़ादी के महलों तक ले आई थी?

दूर सतखण्डे की हाथीदांती खिड़की से झांकती शहज़ादी ने इशारे से बुलाया और नौजवान न जाने कितने गलियारे और बारहदरियां लांघता शाहज़ादी के महलों में जा पहुंचा। सारे दरवाजे खुद-बखुद खुलते गये। आगे झुके हुए ख्वाजासराओं के बिछाए ईरानी कालीन और किवाड़ों के पीछे छिपी कनीज़ों के हाथ उसे हाथों-हाथ लिये चले गए; और नौजवान शाहज़ादी के सामने था....ठगा और मंत्र-मुग्ध।

शाहज़ादी ने उसे तोला; अपने जादू और सम्मोहन को देखा और मुस्करा पड़ी। नौजवान होश में आ गया। हकला कर बोला, "हीरे बेचता हूं, जहांपनाह।"

"हां, हमें हीरों का शौक है और हमने तुम्हारे हीरों की तारीफ सुनी है।"

और उसकी चमड़े की थैली के चमकते अंगारे शाहज़ादी की गुलाबी हथेली पर यों जगमगा उठे जैसे कमल पर ओस की बूंदें सतरंगी किरणों में खिलखिला उठें.... उसे हीरों का शौक था। उसे हीरों की तमीज़ थी। उसके कानों में हीरे थे, उसके केशों मे हीरे थे, कलाइयां हीरों से भरी थीं और होठों के मखमल में जगमगाती हीरों पर आंख टिकाने की ताव उस नौजवान में नहीं थी।

"कीमत.....?" सवाल आया।

"कीमत....?"

"कीमत नहीं लोगे क्या?" शाहज़ादी के स्वर में परिहास मुखर हुआ। नौजवान सहसा संभल गया, "क्यों नहीं लूंगा हुजूर? यही तो मेरी रोज़ी है। कीमत नहीं लूंगा तो बूढ़ी मां और अब्बा को क्या खिलाऊंगा।" लेकिन वह कहीं भीतर अटक गया था। उसकी पेशानी पर पसीना चुहचुहा आया।

"कीमत क्या, बता दे?" किसी ने दुहराया।

"आपसे कैसे अर्ज करूं कि इनकी कीमत क्या है? ज़रूरतमन्दों और पारखियों के हिसाब से हर चीज़ की कीमत बदलती रही है। आपको इनका शौक है, आप ज्यादा जानती है।"

"फिर भी, बदले में क्या चाहोगे?" शाहज़ादी ने फिर पारखी निगाह से हीरों को तोला। उसकी आवाज़ दबी थी, "लगते तो काफी कीमती हैं।"

"हुजूर, जो मुनासिब समझें। खुदारा, मैं सचमुच नहीं जानता कि इनकी कीमत आपसे क्या मांग लूं? आप एक दीनार देंगी, मुझे मंजूर है।" नौजवान कृतार्थ हो आया।



"फिर भी आखिर, अपनी मेहनत का तो कुछ चाहोगे ही न!" शहज़ादी की आंखों के हीरे चमकने लगे थे और उनमें प्रशंसा झूम आई थी।

"हीरों को समाने रखकर शाहज़ादी इनकी मेहनत की कहानी सुनना पसन्द करेंगी?" इस बार नौजवान की वाणी में आत्मविश्वास था और उसने गर्दन उठा ली थी। होंठों पर मुस्कुराहट रेंग आई थी।

"तुम लोग ये सब लाते कहां से हो?"

"कोहकाफ़ से!"

"कोहकाफ़" सुनकर ताज्जुब से खुले शाहज़ादी के मुंह की ओर नौजवान ने देखा और बांहों की मछलियों को हाथों से टटोलते हुए बोला, "तो सुनिए, मेढ़ों और बकरों का एक बड़ा झुण्ड लेकर में पहाड़ की सबसे ऊंची चोटी पर जा पहुंचा। वहां उनकों मैंने ज़िबह कर डाला और उनके गोश्त को अपने बदन पर चारों तरफ इस तरह बांध लिया कि मैं खुद भी गोश्त का एक भारी लोथ लगने लगा। उसी ग़लाज़त और बदबू में मुझे वहां कई दिन बारिश और धूप सहते लेटे रहना पड़ा। तब फिर आंधी की तरह वह उकाब आया जिसका मुझे इन्तज़ार था। चारों ओर एक ज़लजले का आलम बरपा हो गया था। उसने झपटकर मुझे अपने पंजों में दबोचा और बच्चों को खिलाने के लिए ले चला घोंसले की तरफ। बीच आसमान में लटकता मैं चला जा रहा आखिर मैंने अपने आपको बहुत ही वसीह खुली घाटी में पाया। यही कोहक़ाफ था। यहां एक चोटी पर मादा उकाब अपने बच्चों को दुलरा रही थी। जैसे ही मैंने जमीन छुई, छुरी की मदद से अपने को फौरन ही उस सड़े गोश्त से अगल कर लिया, और चुपचाप एक चट्टान की आड़ में हो गया। चारों ओर देखा तो मेरी आंखे खुशी से दमकने लगीं। वह घाटी सचमुच हीरों की थी। कितने भरूं और कितने छोडूं! मैं सब कुछ भूलकर दोनों हाथों से ही अपनी झोली में भरने लगा। लेकिन यह देखकर मेरी ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई कि चारों तरफ उस घाटी में भयानक अजदहे लहरा रहे थे – उकाब के डर से उस चोटी के पास नहीं आते थे, लेकिन जैसे

उस चोटी की रखवाली कर रहे हों। उनकी फुंकारों से सारी घाटी गूंज रही थी। जलती लपटों-सी जीभें देख-देखकर मेरे तो सारे होश फ़ना हो गए। अब कैसे लौटूं? आखिर मैंने मौत की परवाह न करके फिर उसी उकाब के साथ वापस आने की सोची और फिर उसके पंजे से जा चिपका। बीच में पकड़ छूट गई; क्योंकि दो दिन लगातार लटके उड़ते रहने से मेरे हाथों ने जवाब दे दिया था। छूटकर जो गिरा तो सीधा समुन्दर में जा पड़ा। खैर, किसी तरह एक बहता हुआ तख्त हाथ लगा और उसी के सहारे आपके इस खूबसूरत मुल्क में आ लगा।" नौजवान की आवाज मैं चुनौती और आत्मविश्वास दोनों थे। "यह मेरी मेहनत की कहानी है, शाहजादी!"

शाहज़ादी ने उस जांबाज़ नौजवान को प्रशंसा की निगाहों से देखा, "आफ़री! सचमुच आदमी तुम हिम्मत वाले हो?" फिर जाने क्या सोचती-सी अनमनी अपलक आंखों से उसे देखती रही-देखती रही और दूर कहीं हीरे की घाटियों में खो गई। वह भूल गई कि उसके होंठों की वह मुस्कराहट अभी तक अन-सिमटी पड़ी है। वहीं कहीं दूर से बोली, "यों चारों तरफ से ग़लाज़त में लिपटे, पंजों में बिंधे अनजानी खूंख्वार अंधेरी घाटियों में उतरते चले जाने में कैसा लगा होगा तुम्हें? और फिर जब तुमने भट्टों-सी जलती अज़दहों की आंखे देखी होंगी।" फिर उसे होश आ गया। स्नेह से बोली, "अच्छा कीमत बोल दो अब। और देखो, हमें इसी घाटी के हीरे और चाहिए।"

"आपने इन्हें परखा, मेरी मेहनत को देखा, बस आपकी यह हमदर्द मुस्कुराहट ही इनकी कीमत थी और वह मुझे मिल गई।" हिम्मत करके वह बोला, "और पारखी की यह हमदर्द मुस्कुराहट मुझे मिलती रहे, मैं फिर ग़लाज़त और गन्दगी में लिपटूंगा, और खौफनाक गारों और घाटियों में उतरूंगा और फिर भयानक अजगरों और अज़दहों के माथों से कीमती मणि और हीरे चुन-चुनकर लाऊंगा।...."

और तब अपनी बातचीत में ही तोड़कर मलिका शहरजाद ने सुलतान



शहरयार से पूछा, "इसके बाद जानते हैं साहिबेकुरान, कि क्या हुआ?" फिर गहरी सांस लेकर खुद ही बोली, "मेरे आक़ा, इसके बाद बात खत्म होने से पहले ही वे सारे हीरे उस नौजवान के मुंह पर आ पड़े थे और शाहज़ादी की ख्वाबगाह के किवाड़ फटाक से इस तरह बंद हो गए कि नौजवान का माथा उस आबनूसी लकड़ी से जा बजा और किवाड़ों पर नक्श लकड़ी के खूबसूरत फूल उसकी आंखों के आगे फिरकनी की तरह नाच उठे, लेकिन हीरों की शौकीन शाहज़ादी के हाथों से आज कितना कीमती हीरा निकल गया था इसे वह आज नहीं जान पाई....हीरे उसे और भी मिलेंगे.... लेकिन शायद कोहक़ाफ़ के अज़हदो वाली घाटी का हीरा उसे न मिले...." वह धीरे से दर्द से हंसा, "शाहज़ादी को कोई ऐसा हीरा मंजूर नहीं है जिसकी कीमत वह अशर्फियों में न चुका सके।" और उसे तब अपनी गलती महसूस हुई। उसने शाहज़ादी से सीधे ही बात करने की जुर्रत की थी और इसे उसकी ज़बान में गुस्ताखी कहते हैं। वह भूल गया था कि उनके बीच में हीरा था और शाहजादी को शौक था, लेकिन उस नौजवान की रोज़ी था। शाहज़ादी को तो हीरों से सरोकार था; वह कहां से आता है, कौन लाता है, इन सब फ़िज़ूलियात से उसे क्या मतलब? लेकिन वह अपने-आपसे बोला, "यही हीरा तो है जो मुझे शाहज़ादी के महलों के भीतर उसकी ख्वाबगाह तक ले आया है, लेकिन खैर, हीरा पास रहा तो मैं और भी ऊंचे महलों में जाऊंगा....मगर शाहज़ादी की मुस्कुराहट में जादू है।"

लेकिन जब उसने घूमकर देखा तो लगा कि जाने किन अनजानी भूल-भुलैया में वह खड़ा है। अब कोई क़नीज उसे रास्ता नहीं दिखाती थी, अब कोई ख्वाजासरा उसके लिए कालीन नहीं बिछाता था, अब कोई दरवाज़ा उसके लिए अपने आप नहीं खुलता था। गलियारों और बारहदरियों के पास अब कोई मुस्कुराती आवाज़ उसे नहीं खींचती थी। और उसने पाया कि जादुई गुफा का 'खुल जा सिम-सिम' का मन्त्र उसे बिल्कुल याद नहीं आ रहा। वह हिन्दी के जादूगर के बनाए उस काठ के घोड़े पर चढ़कर बादलों में उड़ने तो लगा था; लेकिन नीचे उतारने की कला उसे मालूम नहीं थी।

मां सुभद्रा, तुम चक्रव्यूह की बात सुनते-सुनते सो क्यों गई थीं?

जहाज़ अभी भी मेरी राह देख रहा था और बत्तिया अभी आंखें झपटा-झपकाकर मुझे बुला रही थीं.... मरोड़े खाते हुए झाग उगलती लहरों की अप्रतिरोध्य पुकार अभी भी बांह पकड़कर खींच रही थी और उनकी मणियां अब भी कठोर पत्थरों पर बिखर-बिखर जाती थीं। हां, सुभद्रा तो मेरे एक दोस्त की पत्नी का नाम है न... कैलाश की पत्नी का।

कैलाश की पत्नी का नाम के साथ ही उसका किस्सा आंखों के आगे उभरकर आता है।

पांच साल में ही सुभद्रा ने पाया कि कैलाश के साथ उसका निर्वाह नहीं हो सकता। अपनी एक पुरानी क्लास-फेलो से उसका प्यार है, पत्नी के साथ तो जैसे वह केवल कर्त्तव्य निभा रहा है। उसने कैलाश के पतलून की जेब से निकले खत से जान लिया कि उसे मीना का नवीनतम खत मिला है तो वह अपमान से रो पड़ी। बहुत बार रोई थी वह इस बात को लेकर, बहुत बार उसने सिर फोड़े थे, मायके गई थी, और बहुत बार अपने बड़े लड़के प्रदीप को धुना था। चूल्हों में न जाने कितनी बार पानी औंधाया गया, न जाने कितनी बार थालियां फेंकी गईं और कैलाश ने साफ कह दिया था, "अब मेरे बस का नहीं है कि अपने बचपन के दिनों से चले आते पन्द्रह-बीस साल के सम्पर्क को तोड़ लूं। मीना मेरे व्यक्तित्व और जीवन का एक भाग बन गई है। पिता का दिया हुआ फर्ज़ तुम हो, और मीना मेरा अपना फर्ज है। मुझे कहीं तो जिन्दा रहने दो।"

"ठीक है, तुम ज़िन्दा रहो, तुम्हारी मीनाजी ज़िन्दा रहें। मैं जा रही हूं," जब लड़ाई अपने चरम पर पहुंच गई तो सुभद्रा भाभी ने कहा। वह सचमुच आजिज़ आ गई थी। कभी-कभी कैलाश का व्यवहार उसके प्रति ऐसा हो जाता कि मुझे खुद बुरा लगता। "मैं अब तुम्हारे रास्ते से हट जाऊंगी। संभालो अपने बच्चों को.....।"

"टल जाती तो जीवन में शान्ति आती," कैलाश ने कुढ़कर जवाब दिया।



"उसने छः महीने के धीर को कैलाश की गोदी में ला पटका और बैठकर धरती पर नीला-थोथा पीसने लगी। ऐसी धमकियां कैलाश बहुत बार देख चुका था, बैठा देखता रहा। औटते दूध में नीला-थोथा डाला गया, मगर वह मनहूस और बुझा बैठा देखता रहा। सुभद्रा भीतर चली गई तो उसने सुनाया, "तुम्हें कसम है अपने घरवालों की जो इसे पी ही न लो, या लाकर मुझे दे दो, मैं पी जाऊंगा।" लेकिन उसके जाने के ढंग से सहमकर बच्चे को खाट पर डालकर जब तक कैलाश भीतर पहुंचे-पहुंचे, तब तक गिलास खाली हो चुका था और सुभद्रा पल्ले से मुंह पोंछ रही थी। तब कैलाश झटके से जैसे सचेत हुआ। झपटकर उसने सुभद्रा को बांहों में भर लिया, "सुभद्रा, सुभद्रा! बताओ, तुमने सचमुच वह दूध पी लिया?" फिर उसने गिलास के तले में चिपका नीला-थोथा देखा। सुभद्रा हांफती हुई झूम रही थी, वह बौखलाया-सा भागा-भागा मेरे पास आया, "चलो, चलो! अभी एमर्जेन्सी चलना है। सुभद्रा ने ज़हर पी लिया है। नीले-थोथे में मिलाकर जाने क्या पी लिया है और अब हिलती-डुलती भी नहीं है।" कैलाश पागल हो गया था, मैं वहां पहुंचा तो सुभद्रा के होंठों के कोनों से नीला-नीला पानी जैसा टपक रहा था। आंखें शराबियों की तरह बोझ से बन्द थीं। गोदी में भरकर हमने उसे तांगे में रक्खा, झटक-झटककर जगाए रखने की कोशिश करते रहे। पहले उठा-उठाकर आंखे खोलते रहे। लेकिन वह होश में नहीं थी। प्रदीप मां से चिपककर रो पड़ा। उफ़, सुभद्रा ने यह क्या कर डाला?

एमर्जेन्सी वार्ड में मुंह में नली डाल-डालकर उन्हें कै कराई गई, सोने न देने की पूरी कोशिश की गई और जब विश्वास हो गया कि सारा ज़हर निकल गया तो नाक में नलियां डालकर ऑक्सीजन दिया जाने लगा। तभी उन्हें होश आया, पलकें उठीं। प्रदीप तो पास ही खड़ा था। बगल में पड़े अपने बेजान हाथ में उन्होंने प्रदीप का छोटा-सा हाथ महसूस किया, उसे दबाया, पहचाना। तब सहसा उन्होने तड़पकर नलिया निकालकर फेंक दीं और ज़ोर से रो पड़ी, "डाक्टर साहब, मुझे

बचा लो। मेरे बच्चे बहुत छोटे-छोटे हैं। उन्हें कौन देखगा? कौन कपड़े पहनाएगा, सुलाएगा कौन उन्हें? मुझे मेरे बच्चों के लिए बचा लो डाक्टर साहब। मैं भीख मांगूगी, आटा पीसूंगी, लेकिन इन बच्चों के लिए जिऊंगी।"

मेरी आंखों में आंसू आ गए थे!....

दूर जहाज़ों की झिलमिलाती बत्तियों में सुभद्रा भाभी का चेहरा उभर आया था, "मुझे मेरे बच्चों के लिए बचा लो, डाक्टर साहब! मैं भीख मांगूगी, मैं आटा पीसूंगी और इन बच्चों के लिए जिऊंगी।"

सुभद्रा भाभी मां थी-वह कैलाश के लिए ज़हर खाकर मर सकी थी; लेकिन बच्चों के लिए मौत के चंगुल से छूटकर भी आ सकती थीं। मैंने तो अपने 'बच्चों' को नौ महीने नहीं, नौ-नौ वर्ष दिमाग में रक्खा है, न जाने कितना खून और नींद देकर पाला है और उन्हें छोड़कर यहां चला आता हूं मरने? - यहां जहां की हर प्रतिध्वनि कहती है, "मुझे मेरे बच्चों के लिए बचा लो, डाक्टर।"

और मैं झटके से उठ बैठा, ठीक जैसे सुभद्रा भाभी उठी थीं। हाथ के कंकड को ज़ोर से घुमाकर लहरों पर फेंक दिया और दूर प्रतीक्षा करते जहाज़ की ओर गुर्राती लहरों से बोला, "नहीं, दोस्त सागर, अभी नहीं...अभी नहीं, अंधेरे की गरजती लहरों ! भाई जहाज़, फिर कभी आना। आज तो मैं लौट रहा हूं....।" तब मैंने देखा कि लहरों की फुहार में मेरे कपड़े सराबोर हो गए थे।

फिर मैं लौट आया। ऊबड़-खाबड पत्थरों के ढोकों पर कदम रखता हुआ. ... खंदकों का पार करता हुआ-जैसे शिव लौट आए थे सती की लाश को कन्धे पर लादकर।

वह मेरी अपनी लाश थी.....

सुना, आज अपनी वर्षगांठ पर मैं 'आत्म-हत्या' करके लौटा हूं।

✷ ——————— ✷



## राजेन्द्र यादव

जन्म - 28 अगस्त। जन्म स्थान-आगरा।

प्रकाशनः उपन्यास- सारा आकाश, उजड़े हुए लोग, शह और मात, एक इंच मुस्कान (मन्नू भंडारी के साथ) अनदेखे-अनजाने पल, मंत्रविद्ध, कुलटा।

कहानी संग्रह - देवताओं की मुर्तियाँ, खेल-खिलौने, जहाँ लक्ष्मी कैद है, अभिमन्यु की आत्महत्या, छोटे-छोटे ताजमहल, किनारे से किनारे तक, टूटना, ढोल और अपने पार, वहां तक पहुँचने की दौड़।

समीक्षा - कहानीःस्वरूप और संवेदना, उपन्यासः स्वरूप और संवेदना। कहानीः अनुभव और अभिव्यक्ति। कांटे की बात (हंस के संपादकीय लेख चार खंडों में) प्रेमचंद की विरासत, अनेक कहानी संग्रहों का संपादन।

व्यक्ति चित्र- औरों के बहाने।

चेखव, तुर्गनेव, टाल्सटाय, लर्मान्तोव, स्टीन बैक, और कामू की कुछ रचनाओं के अनुवाद।

साक्षात्कार- हकदार

हंस मासिक पत्रिका अगस्त 1986 से संपादन।

# दाज्यू

**शेखर जोशी**

चौक से निकलकर बाईं ओर जो बड़े साइनबोर्डवाला छोटा कैफे है वहीं जगदीश बाबू ने उसे पहली बार देखा था। गोरा-चिट्टा रंग, नीला शफ़्फ़ाफ़ आँखें, सुनहरे बाल और चाल में एक अनोखी मस्ती-पर शिथिलता नहीं। कमल के पत्ते पर फिसलती हुई पानी की बूँद की-सी फुर्ती। आँखों की चंचलता देखकर उसकी उम्र का अनुमान केवल नौ-दस वर्ष ही लगाया जा सकता था और शायद यही उम्र उसकी रही होगी।

अधजली सिगरेट का एक लंबा कश खींचते हुए जब जगदीश बाबू ने कैफे में प्रवेश किया तो वह एक मेज पर से प्लेटें उठा रहा था और जब वे पास ही कोने की टेबल पर बैठे तो वह सामने था। मानो, घंटों से उनकी, उस स्थान पर आनेवाले व्यक्ति की, प्रतीक्षा कर रहा हो। वह कुछ बोला नहीं। हाँ, नम्रता प्रदर्शन के लिए थोड़ा झुका और मुस्कराया-भर था, पर उसके इसी मौन में जैसे सारा 'मीनू' समाहित था। 'सिंगल चाय' का आर्डर पाने पर वह एक बार पुनः मुस्कराकर चल दिया और पलक मारते ही चाय हाज़िर थी।

मुनष्य की भावनाएँ बड़ी विचित्र होती हैं। निर्जन, एकांत स्थान में निस्संग होने पर भी कभी-कभी आदमी एकाकी अनुभव नहीं करता। लगता है, इस एकाकीपन में भी सबकुछ कितना निकट है, कितना अपना है। परंतु इसके विपरीत कभी-कभी सैकड़ों नर-नारियों के बीच जनरवमय वातावरण में रहकर भी सूनेपन की अनुभूति होती है। लगता है, जो कुछ है वह पराया है, कितना



अपनत्वहीन! पर यह अकारण ही नहीं होता। इस एकाकीपन की अनुभूति, इस अलगाव की जड़ें होती हैं- विछोह या विरक्ति की किसी कथा के मूल में।

जगदीश बाबू दूर देश में आए हैं, अकेले हैं। चौक की चहल-पहल, कैफे के शोरगुल में उन्हें लगता है, सबकुछ अपनत्वहीन है। शायद कुछ दिनों रहकर, अभ्यस्त हो जाने पर उन्हें वातावरण में अपनेपन की अनुभूति होने लगे। पर आज तो लगता है यह अपना नहीं, अपनेपन की सीमा से दूर, कितना दूर है! और तब उन्हें अनायास ही याद आने लगते हैं अपने गाँव-पड़ोस के आदमी, स्कूल-कालेज के छोकरे, अपने निकट शहर के कैफे-होटल....!

"चाय शा'ब!"

जगदीश बाबू ने राखदानी में सिगरेट झाड़ी। उन्हें लगा, इन शब्दों की ध्वनि में वही कुछ है जिसकी रिक्तता उन्हें अनुभव हो रही है। और उन्होंने अपनी शंका का समाधान पर लिया -

"क्या नाम है तुम्हारा?"

"मदन।"

"अच्छा, मदन! तुम कहाँ के रहनेवाले हो?"

"पहाड़ का हूँ, बाबूजी!"

"पहाड़ तो सैकड़ों हैं - आबू, दार्जिलिंग, मसूरी, शिमला, अल्मोड़ा! तुम्हारा गाँव किस पहाड़ में है?"

इस बार शायद उसे पहाड़ और जिले को भेद मालूम हो गया। मुस्कराकर बोला-

"अल्मोड़ा, शा'ब अल्मोड़ा।"

"अल्मोड़ा में कौन-सा गाँव है?" विशेष जानने की गरज से जगदीश बाबू ने पूछा।

इस प्रश्न ने उसे संकोच में डाल दिया। शायद अपने गाँव की निराली संज्ञा के कारण उसे संकोच हुआ था, इसलिए टालता हुआ-सा बोला, “वह तो दूर है शा’ब, अल्मोड़ा से पंद्रह-बीस मील होगा।”

“फिर भी, नाम तो कुछ होगा ही।” जगदीश बाबू ने जोर देकर पूछा।

“डोट्यालगों,” वह सकुचाता हुआ-सा बोला।

जगदीश बाबू के चेहरे पर पुती हुई एकाकीपन की स्याही दूर हो गई और जब उन्होंने मुस्कराकर मदन को बताया कि वे भी उसके निकटवर्ती गाँव “.. ..” के रहनेवाले हैं तो लगा जैसे प्रसन्नता के कारण अभी मदन के हाथ से ‘ट्रे’ गिर पड़ेगी। उसके मुँह से शब्द निकलना चाहकर भी न निकल सके। खोया-खोया-सा वह मानो अपने अतीत को फिर लौट-लौटकर देखने का प्रयत्न कर रहा हो।

अतीत-गाँव...ऊँची पहाड़ियाँ... नदी.... ईजा (माँ)... बाबा... दीदी.... भुलि (छोटी बहन).... दाज्यू (बड़ा भाई)...!

मदन को जगदीश बाबू के रूप में किसकी छाया निकट जान पड़ी! ईजा? - नहीं, बाबा? - नहीं, दीदी,.... भुलि? - नहीं, दाज्यू? हाँ, दाज्यू!

दो-चार ही दिनों में मदन और जगदीश बाबू के बीच अजनबीपन की खाई दूर हो गई। टेबल पर बैठते ही मदन का स्वर सुनाई देता -

‘दाज्यू जैहिन्न...।’

‘दाज्यू, आज तो ठंड बहुत है।’

‘दाज्यू, क्या यहाँ भी ‘ह्यूँ’ (हिम) पड़ेगा।’

‘दाज्यू, आपने तो कल बहुत थोड़ा खाना खाया।’ तभी किसी ओर से ‘बॉय’ की आवाज़ पड़ती और मदन उस आवाज़ की प्रतिध्वनि के पहुँचने से पहले ही वहाँ पहुँच जाता! आर्डर लेकर फिर जाते-जाते जगदीश बाबू से पूछता, ‘दाज्यू कोई चीज़?’



‘पानी लाओ।’

‘लाया दाज्यू’, दूसरी टेबल से मदन की आवाज़ सुनाई देती।

मदन ‘दाज्यू’ शब्द को उतनी ही आतुरता और लगन से दुहराता जितनी आतुरता से बहुत दिनों के बाद मिलने पर माँ अपने बेटे को चूमती है।

कुछ दिनों बाद जगदीश बाबू का एकाकीपन दूर हो गया। उन्हें अब चौक, कैफ़े ही नहीं सारा शहर अपनेपन के रंग में रँगा हुआ-सा लगने लगा। परन्तु अब उन्हें यह बार-बार ‘दाज्यू’ कहलाना अच्छा नहीं लगता और यह मदन था कि दूसरी टेबल से भी ‘दाज्यू’...।

“मदन ! इधर आओ।”

‘दाज्यू’ शब्द की आवृति पर जगदीश बाबू के मध्यमवर्गीय संस्कार जाग उठे - अपनत्व की पतली डोरी -‘अहं’ की तेज धार के आगे न टिक सकी।

“दाज्यू, चाय लाऊँ?”

“चाय नहीं, लेकिन यह दाज्यू-दाज्यू क्या चिल्लाते रहते हो दिन-रात। किसी की -प्रेस्टिज’ का ख्याल भी नहीं है तुम्हें?”

जगदीश बाबू का मुँह क्रोध के कारण तमतमा गया, शब्दों पर अधिकार नहीं रह सका। मदन ‘प्रेस्टिज’ का अर्थ समझ सकेगा या नहीं, यह भी उन्हें ध्यान नहीं रहा, पर मदन बिना समझाए ही सबकुछ समझ गया था।

मदन को जगदीश बाबू के व्यवहार से गहरी चोट लगी। मैनेजर से सिरदर्द का बहाना कर वह घुटनों में सर दे कोठरी मे सिसकियाँ भर-भर रोता रहा। घर-गाँव से दूर, ऐसी परिस्थिति में मदन का जगदीश बाबू के प्रति आत्मीयता-प्रदर्शन स्वाभाविक ही था। इसी कारण आज प्रवासी जीवन में पहली बार उसे लगा जैसे किसी ने उसे ईजा की गोदी से, बाबा की बाँहों से, और दीदी के आँचल की छाया से बलपूर्वक खींच लिया हो।

परंतु भावुकता स्थायी नहीं होती। रो लेने पर, अंतर की घुमड़ती वेदना को आँखों की राह बाहर निकाल लेने पर मनुष्य जो भी निश्चय करना है वे भावुक क्षणों की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण होते हैं।

मदन पूर्ववत काम करने लगा।

दूसरे दिन कैफ़े जाते हुए अचानक ही जागदीश बाबू की भेंट बचपन के सहपाठी हेमंत से हो गई। कैफे में पहुँचकर जगदीश बाबू ने इशारे से मदन को बुलाया परंतु उन्हें लगा जैसे वह उनसे दूर-दूर रहने का प्रयत्न कर रहा हो। दूसरी बार बुलाने पर ही मदन आया। आज उसके मुँह पर वह मुस्कान न थी और न ही उसे 'क्या लाऊँ दाज्यू' कहा। स्वयं जगदीश बाबू को ही कहना पड़ा, "दो चाय, दो ऑमलेट", परंतु तब भी 'लाया दाज्यू' कहने की अपेक्षा 'लाया शा'ब कहकर ही वह चल दिया। मानो दोनों अपरिचित हों।

"शायद पहाड़िया है?" हेमंत ने अनुमान लगाकर पूछा।

"हाँ", रूखा-सा उत्तर दे दिया जगदीश बाबू ने और वार्तालाप का विषय बदल दिया।

मदन चाय ले आया था।

"क्या नाम है तुम्हारा लड़के?" हेमंत ने अहसान चढ़ाने की गरज से पूछा।

कुछ क्षणों के लिए टेबुल पर गंभीर मौन छा गया। जगदीश बाबू की आँखें चाय की प्याली पर ही झुकी रह गईं। मदन की आँखों के सामने विगत स्मृतियाँ घूमने लगीं... जगदीश बाबू का एक दिन ऐसे ही नाम पूछना....फिर...दाज्यू, आपने तो कल थोड़ा ही खाया... और एक दिन 'किसी की प्रेस्टिज का ख्याल नहीं रहता तुम्हें.....'

जगदीश बाबू ने आँखें उठाकर मदन की ओर देखा, उन्हें लगा जैसे अभी वह ज्वालामुखी-सा फूट पड़ेगा।

हेमंत ने आग्रह के स्वर में दुहराया, "क्या नाम है तुम्हारा?"



"बॉय कहते हैं शा'ब मुझे।" संक्षिप्त-सा उत्तर देकर वह मुड़ गया। आवेश में उसका चेहरा लाल होकर भी अधिक सुंदर हो गया था।

## शेखर जोशी

जन्म - सन् 1932, अल्मोड़ा जनपद के ओलिया गांव में। 1955 में 'धर्मयुग' कहानी प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार।

'पेड़ की याद' शब्द-चित्र-संकलन के लिए उत्तर प्रदेश हिन्दी-संस्थान का महावीर प्रसाद द्विवेदी पुरस्कार 1987।

प्रकाशन - कोसों का घरवार, साथ के लोग, हलवाहा, नौरंगी बीमार है, मेरा पहाड़ (कहानी-संग्रह) पेड़ की याद (शब्द-चित्र)

अभी भी रचना-कर्म जारी है।

संपर्क - 100 लूकर गंज, इलाहाबाद

# भोला राम का जीव

## हरिशंकर परसाई

ऐसा कभी नहीं हुआ था।

धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफारिश के आधार पर स्वर्ग का नरक के निवास-स्थान 'अलाट' करते आ रहे थे। पर ऐसा कभी नहीं हुआ था।

सामने बैठे चित्रगुप्त बार-बार चश्मा पोंछ, बार-बार थूक से पन्ने पलट, रजिस्टर पर रजिस्टर देख रहे थे। गलती पकड़ में ही नहीं आ रही थी। आखिर उन्होंने खोजकर रजिस्टर इतने जोर से बन्द किया कि मक्खी चपेट में आ गयी। उसे निकालते हुए वे बोले, "महाराज, रिकार्ड सब ठीक है। भोलाराम के जीव ने पाँच दिन पहले देह त्यागी और यमदूत के साथ इस लोक के लिए रवाना भी हुआ, पर यहाँ अभी तक नहीं पहुँचा।"

धर्मराज ने पूछा, "और वह दूत कहाँ है?"

"महाराज, वह भी लापता है।"

इसी समय द्वार खुले और एक यमदूत बड़ा बदहवास वहाँ आया। उसका मौलिक कुरूप चेहरा परिश्रम, परेशानी और भय के कारण और भी विकृत हो गया था। उसे देखते ही चित्रगुप्त चिल्ला उठे, "अरे, तू कहाँ रहा इतने दिन? भोलाराम का जीव कहाँ है?"

यमदूत हाथ जोड़कर बोला, "दयानिधान, मैं कैसे बतलाऊँ कि क्या हो गया। आज तक मैंने धोखा नहीं खाया था, पर भोलाराम का जीव मुझे चकमा दे गया। पांच दिन पहले जब जीव ने भोला राम की देह को त्यागा, तब मैंने उसे पकड़ा और इस लोक की यात्रा आरम्भ की। नगर के बाहर ज्योंही मैं उसे लेकर एक तीव्र वायु-तरंग पर सवार हुआ त्योंही व मेरे चंगुल से छूटकर न जाने कहाँ गायब हो गया। इन पाँच दिनों में मैंने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर उसका कही पता नहीं चला।"



दूत ने सिर झुकाकर कहा, "महाराज, मेरी सावधानी में बिल्कुल कसर नहीं थी। मेरे इन अभ्यस्त हाथों से, अच्छे-अच्छे वकील भी नहीं छूट सके। पर इस बार तो कोई इन्द्रजाल ही हो गया।"

चित्रगुप्त ने कहा, "महाराज, आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को कुछ चीज भेजते है और उसे रास्ते में ही रेलवेवाले उड़ा लेते हैं। हौजरी के पार्सलों के मोजे रेलवे अफसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डब्बे-के-डब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो रही है। राजनैतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर बन्द कर देते हैं। कहीं भोलाराम के जीव को भी तो किसी विरोधी के मरने के बाद दुर्गति करने के लिए नहीं उड़ा दिया?"

धर्मराज ने व्यंग्य से चित्रगुप्त की ओर देखते हुए कहा, "तुम्हारी भी रिटायर होने की उम्र आ गयी। भला भोलाराम जैसे नगण्य, दीन आदमी से किसी को क्या लेना-देना?"

इसी समय कहीं घूमते-घामते नारद मुनि वहाँ आ गये। धर्मराज को गुम-सुम बैठे देख बोले, "क्यों धर्मराज, कैसे चिन्तित बैठे है? क्या नरक में निवास-स्थान की समस्या अभी हल नहीं हुई?"

धर्मराज ने कहा, "वह समस्या तो कभी की हल हो गयी। नरक में पिछले सालों से बड़े गुणी कारीगर आ गये हैं। कई इमारतों के ठेकेदार हैं, जिन्होंने पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनायीं। बड़े-बड़े इंजीनियर भी आ गये हैं, जिन्होंने

ठेकेदारों से मिलकर पंचवर्षीय योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होंने उन मजदूरों की हाजिरी भरकर पैसा हड़पा, जो कभी काम पर गये ही नहीं। इन्होंने बहुत जल्दी नरक में कई इमारतें तान दी हैं। वह समस्या तो हल हो गयी, पर एक बड़ी विकट उलझन आ गयी है। भोलाराम नाम के एक आदमी की पांच दिन पहले मृत्यु हुई। उसके जीव को यह दूत यहाँ ला रहा था, कि जीव इसे रास्ते मे चकमा देकर भाग गया। इसने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर वह कहीं नहीं मिला। अगर ऐसा होने लगा, तो पाप-पुण्य का भेद मिट जायेगा।"

नारद ने पूछा, "उस पर इनकमटैक्स तो बकाया नहीं था? हो सकता है, उन लोगों ने रोक लिया हो।"

चित्रगुप्त ने कहा, "इनकम होती तो टैक्स होता। भुखमरा था।"

नारद बोले, "मामला बड़ा दिलचस्प है। अच्छा मुझे उसका नाम, पता तो बताओ। मैं पृथ्वी पर जाता हूँ।"

चित्रगुप्त ने रजिस्टर देखकर बताया, "भोलाराम नाम था उसका। जबलपुर शहर मे घमापुरमोहल्ले में नाले के किनारे एक-डेढ़ कमरे के टूटे-फूटे मकान में वह परिवार समेत रहता था। उसकी एक स्त्री थी, दो लड़के और लड़की। उम्र लगभग साठ साल। सरकारी नौकर था। पाँच साल पहले रिटायर हो गया था मकान का किराया उसने एक साल से नहीं दिया, इसलिए मकान-मालिक उसे निकालना चाहता था इतने में भोलाराम ने संसार ही छोड़ दिया। आज पाँचवाँ दिन है। बहुत सम्भव है कि अगर मकान-मालिक वास्तविक मकान-मालिक है, तो उसे भोलाराम के मरते ही, उसके परिवार को निकाल दिया होगा। इसलिए आपको तलाश में काफी घूमना पड़ेगा।"

माँ-बेटी के सम्मिलित क्रन्दन से ही नारद भोलाराम का मकान पहचान गये।

द्वार पर जाकर उन्होंने आवाज लगायी, "नारायन! नारायन!" लड़की ने देखकर कहा, "आगे जाओ महाराज!"



नारद ने कहा, "मुझे भिक्षा नहीं चाहिए; मुझे भोलाराम के बारे में कुछ पूछताछ करनी है। अपनी माँ को ज़रा बाहर भेजो, बेटी!"

भोलाराम की पत्नी बाहर आयी। नारद ने कहा, "माता, भोलाराम को क्या बीमारी थी?"

"क्या बताऊँ? गरीबी की बीमारी थी। पाँच साल हो गये, पेंशन पर बैठे, पर पेंशन अभी तक नहीं मिली। हर दस-पन्द्रह दिन में एक दरख्वास्त देते थे, पर वहाँ से या तो जवाब आता ही नहीं था और आता, तो यही कि तुम्हारी पेंशन के मामले पर विचार हो रहा है। इन पाँच सालों मे सब गहने बेचकर हम लोग खा गये। फिर बरतन बिके। अब कुछ नहीं बचा था। फाके होने लगे थे। चिन्ता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया।"नारद ने कहा, "क्या करोगी माँ? उनकी इतनी ही उम्र थी।"

"ऐसा तो मत कहो, महाराज! उम्र तो बहुत थी। पचास-साठ रूपया महीना पेंशन मिलती तो कुछ और काम कहीं करके गुजारा हो जाता। पर क्या करें? पाँच साल नौकरी से बैठे हो गये और अभी तक एक कौड़ी नहीं मिली।"

दुख की कथा सुनने की फुरसत नारद को थी नहीं। वे अपने मुद्दे पर आये, "माँ यह तो बताओं कि यहाँ किसी से उनका विशेष प्रेम था, जिसमें उनका जी लगा हो?"

पत्नी बोली, "लगाव तो महाराज, बाल-बच्चों से ही होता है।"

"नहीं, परिवार के बाहर भी हो सकता है। मेरा मतलब है, किसी स्त्री-"

स्त्री ने गुर्राकर नारद की ओर देखा। बोली, "कुछ मत बको महाराज! तुम साधु हो, उचक्के नहीं हो। जिन्दगी-भर उन्होंने किसी दूसरी स्त्री को आँख उठाकर नहीं देखा।

नारद हँसकर बोले, "हाँ, तुम्हारा यह सोचना ठीक ही है। यही हर अच्छी गृहस्थी का आधार है। अच्छा, माता मैं चला।"

स्त्री ने कहा, "महाराज, आप तो साधु हैं, सिद्ध पुरूष है। कुछ ऐसा नहीं कर सकते कि उनकी रूकी हुई पेंशन मिल जाये। इन बच्चों का पेट कुछ दिन भर जाये।"

नारद को दया आ गयी थी। वे कहने लगे, "साधुओं की बात कौन मानता है? मेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं। फिर भी मैं सरकारी दफ्तर में जाऊँगा और कोशिश करूँगा।"

वहाँ से चलकर नारद सरकारी दफ्तर में पहुँचे। वहाँ पहले ही कमरे में बैठे बाबू से उन्होंने भोलाराम के केस के बारे में बातें की। उस बाबू ने उन्हें ध्यानपूर्वक देखा और बोल, "भोलाराम ने दरख्वास्तें तो भेजी थीं, पर उन पर वजन नहीं रखा था, इसलिए कहीं उड़ गयी होंगी।"

नारद ने कहा, "भई, ये बहुत-से 'पेपर-वेट' तो रखे है। इन्हें क्यों नहीं रख दिया?"

बाबू हँसा - "आप साधु हैं, आपको दुनियादारी समझ में नहीं आती। दरख्वास्तें 'पेपर-वेट' से नहीं दबतीं। खैर, आप उस कमरे में बैठे बाबू से मिलिए।"

नारद उस बाबू के पास गये। उसने तीसरे के पास भेजा, तीसरे ने चौथे के पास, चौथे ने पाँचवें के पास। जब नारद पचीस-तीस बाबुओं और अफसरों के पास घूम आये तब एक चपरासी ने कहा, "महाराज, आप क्यों इस झंझट में पड़ गये। आप अगर साल-भर भी यहाँ चक्कर लगाते रहें, तो भी काम नहीं होगा। आप तो सीधे बड़े साहब से मिलिए। उन्हें खुश कर लिया, तो अभी काम हो जायेगा।"

नारद बड़े साहब के कमरे में पहुँचे। बाहर चपरासी ऊँघ रहा था, इसलिए उन्हें किसी ने छेड़ा नहीं। बिना 'विजिटिंग कार्ड' के आया देख, साहब बड़े नाराज हुए। बोले, "इसे मन्दिर-वन्दिर समझ लिया है क्या? धड़धड़ाते चले आये। चिट क्यों नहीं भेजी?"



नारद ने कहा, "कैसे भेजता? चपरासी सो रहा है।"

"क्या काम है?" साहब ने रोब से पूछा।

नारद ने भोलाराम का पेंशन-केस बतलाया।

साहब बोले, "आप है वैरागी। दफ्तरों के रीति-रिवाज नहीं जानते। असल में भोलाराम ने गलती की। भई, यह भी एक मन्दिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पड़ता है। आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते है। भोलाराम की दरख्वास्तें उड़ रही हैं, उन पर वजन रखिए।"

नारद ने सोचा कि फिर यहाँ वजन की समस्या खड़ी हो गयी। साहब बोले, "भई, सरकारी पैसे का मामला है। पेंशन का केस बीसों दफ्तरों में जाता है। देर लग ही जाती है। बीसों बार एक ही बात को बीस जगह लिखना पड़ता है, तब पक्की होती है। जितनी पेंशन मिलती है, उतने ही स्टेशनरी लग जाती है। हाँ, जल्दी भी हो सकता है, मगर-" साहब रूके।

नारद ने कहा, "मगर क्या?"

साहब ने कुटिल मुसकान के साथ कहा, "मगर वजन चाहिए। आप समझे नहीं। जैसे आपकी यह सुन्दर वीणा है, इसका भी वजन भोलाराम की दरख्वास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना-बजाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूँगा। साधु-सन्तों की वीणा से तो और अच्छे स्वर निकलते हैं।"

नारद अपनी वीणा छिनते देख जरा घबड़ाये। पर फिर सँभलकर उन्होंने वीणा टेबिल पर रखकर कहा, "यह लीजिए। अब जरा जल्दी उसकी पेंशन का आर्डर निकाल दीजिए।"

साहब ने प्रसन्नता से उन्हें कुरसी दी, वीणा को एक कोने में रखा और घण्टी बजायी। चपरासी हाजिर हुआ।

साहब ने हुक्म दिया, "बड़े बाबू से भोलाराम के केस की फाइल लाओ।"

थोड़ी देर बाद चपरासी भोलाराम की सौ-डेढ़ सौ दरख्वास्तों से भरी फाइल लेकर आया। उसमें पेंशन के कागजात भी थे। साहब ने फाइल पर का नाम देखा और निश्चित करने के लिए पूछा, "क्या नाम बताया साधुजी आपने?"

नारद समझे कि साहब कुछ ऊँचा सुनता है। इसलिए जोर से बोले, "भोलाराम!"

सहसा फाइल में से आवाज आयी, "कौन पुकार रहा है। मुझे? पोस्टमैन है? क्या पेंशन का ऑर्डर आ गया?"

नारद चौंके। पर दूसरे ही क्षण बात समझ गये। बोले, "भोलाराम! तुम क्या भोलाराम के जीव हो?"

"हाँ," आवाज आयी।

नारद ने कहा, "मैं नारद हूँ। मैं तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, स्वर्ग में तुम्हारा इन्तजार हो रहा है।"

आवाज आयी, "मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरख्वास्तों में अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मैं अपनी दरख्वास्तें छोड़कर नहीं जा सकता।"

## हरिशंकर परसाई

जन्म 22 अगस्त 1924, स्थान-जमानी (इटारसी के पास, मध्य प्रदेश)।

प्रकाशनः कहानी-संग्रह-हंसते हैं-रोते हैं, जैसे उसके दिन फिरे, दो नाकवाले लोग, रानी नागफनी की कहानी।

उपन्यास - तट की खोज।

निबंध संग्रह - तब की बात और थी, भूत के पाँव पीछे, बेईमानी की परत,



पगडंडियों का जमाना, सदाचार का ताबीज, वैष्णव की फिसलन, विकलांग श्रद्धा का दौर, माटी कहे कुम्हार से, शिकायत मुझे भी है, और अन्त में, हम इक उम्र से वाकिफ हैं आदि।

'वसुधा' पत्रिका के संस्थापक सम्पादक। साहित्य अकादमी का सम्मान, मध्य प्रदेश शासन का शिक्षा-सम्मान, सागर विश्व-विद्यालय में मुक्तिबोध सृजन-पीठ के निदेशक, जबलपुर विश्वविद्यालय के द्वारा डी.लिट् की मानद उपाधि।

संपर्क :- 1527, नेपियर टाऊन, जबलपुर